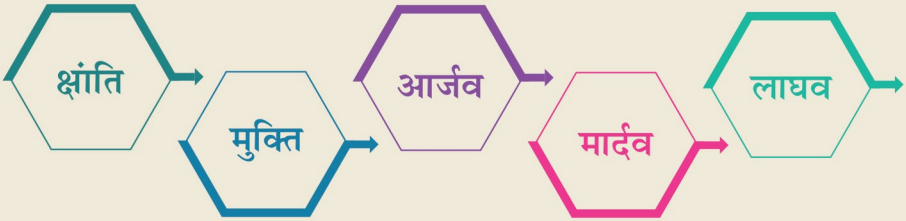

साधना दस धर्म की

आचार्य महाप्रज्ञ

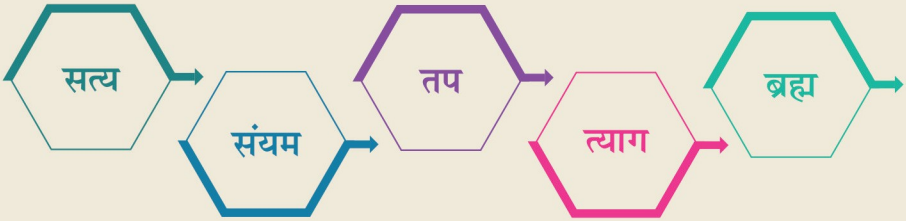

साधना दस धर्म की

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080,224671
ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

ISBN :

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

संस्करण : जुलाई 2020

मूल्य : 00/- (एक सौ रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया, जयपुर

SHADHANA DAS DHARM KE by Acharya Mahapragya ₹ 00/-

श्रद्धार्पण

जैन वाङ्मय में दस धर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है। उनके नाम इस प्रकार हैं–क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। इन दस धर्मों की साधना करने वाला व्यक्ति सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। इनकी साधना से आदमी का राग-द्वेषात्मक भाव विलय को प्राप्त हो जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बालावस्था में ही संत बन गये थे। लगभग आठ दशकों तक उन्होंने साधुत्व का जीवन जीया। वे मनीषी भी थे और साधक भी थे। प्रेक्षाध्यान की साधना के द्वारा कितने-कितने साधकों को उन्होंने साधना पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया। आचार्यश्री का अदुष्य, वैदुष्य और योग साधना का कौशल उनके व्यक्तित्व को पावरफुल बनाने वाला था। उनके प्रवचनों में भी उनकी प्रज्ञा प्रस्फुटित होती थी। उनके प्रवचन पुस्तक का रूप भी ले लेते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'साधना दस धर्म की' पाठक के मन में दस धर्मों के प्रति क्रियात्मक आकर्षण पैदा करने वाला बने।

मैं परमश्रद्धेय परमवन्दनीय जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के दशमाधिशास्ता परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञजी के चरणों में अपना श्रद्धार्पण करता हूं।

24 जून 2020 **आचार्य महाश्रमण**
हैदराबाद (तैलंगाना)

अनुक्रम

1. क्षमा	7
2. क्षमा है धर्म की पहली कक्षा	9
3. सहिष्णुता : आराधना और विराधना	15
4. सहिष्णुता और शक्ति	22
5. कैसे हो सहिष्णुता का विकास?	26
6. मुक्ति	35
7. मुक्ति : अलोभ चेतना का जागरण	37
8. लोभ को संतोष से जीतो	41
9. सफलता का रहस्य : अनासक्ति	45
10. आर्जव	53
11. ऋजुता और भावशुद्धि	55
12. जहां सरलता वहां सत्य	61
13. मार्दव	64
14. मार्दव : निश्चय और व्यवहार का सेतु	66
15. अहंकार को मृदुता से जीतो	72
16. मृदुता बनाम कोमलता	78
17. लाघव	87
18. कैसे हो आकिंचन्य का विकास?	89
19. सत्य	95
20. सत्य : साधना का पहला सोपान	97

21. सत्य से संकल्प सिद्धि 103
22. धर्म : सत्य की अनुभूति 111
23. शाश्वत सत्य और युगीन सत्य 114
24. सत्य, संप्रदाय और परंपरा 116
25. नेतृत्व की कसौटी : सत्यनिष्ठा 119
26. संयम 124
27. संयम : जीने की कला 126
28. धर्म है संयम 134
29. धर्म का पहला सूत्र : इन्द्रिय संयम 138
30. जीवन की सरसता है संयम 143
31. तप 148
32. तप : परमार्थ का पथ 150
33. अध्यात्म का अनुष्ठान है तप 155
34. तपस्या की विधि 159
35. तपस्या और विवेक 162
36. अभ्यास करें महातप का 167
37. त्याग 172
38. त्याग करें मूर्च्छा का 174
39. जागरण हो त्याग की चेतना का 178
40. सुख की स्पृहा क्यों? 186
41. ब्रह्मचर्य 193
42. ब्रह्मचर्य : इन्द्रिय संयम की साधना 195
43. ब्रह्मचर्य की साधना के सूत्र 202
44. ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन 207
45. ब्रह्मचर्य : प्रयोग उदात्तीकरण का 212

1. क्षमा

एक संस्कृत कवि कहता है–मुझे वह चीज बताओ, जिसकी दूध से तुलना कर सकें। दूध पवित्र है, सहज मधुर है, उसे तपाया गया, विकृत किया गया, मथा गया, फिर भी स्नेह देता है।

स्नेह वही दे सकता है, जो प्रकृति से महान है। स्नेह वही दे सकता है, जो समर्थ है। लघु और असमर्थ इसलिए लघु और असमर्थ होता है कि उसमें स्नेह की क्षमता नहीं होती। लक्ष्मण ने सुग्रीव से कठोर वचन के लिए क्षमा मांगी–**मया त्वं परुषान्युक्तः तत् क्षमस्व सखे! मम।**

लक्ष्मण असमर्थ नहीं थे। वे स्नेह की शून्यता को स्नेह से भर सकते थे। इसलिए उनके मुंह में क्षमा का स्वर था।

स्नेह और क्षमा

सिंधु-सौवीर के अधिपति उद्रायण ने उज्जयिनीपति चण्डप्रद्योत से क्षमा मांगी। एक था बंदी और दूसरा था बंदी बनाने वाला। एक था पराजित और दूसरा था विजेता। उद्रायण ने कहा–'महाराज प्रद्योत! आज संवत्सरी का दिन है। यह मैत्री का महान पर्व है। इस अवसर पर मैं तुम्हें हृदय से क्षमा करता हूं। तुम मुझे हृदय से क्षमा करो।'

महावीर का मानना था कि एक छोटा हो और दूसरा बड़ा, उसमें मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री समानता के धरातल पर हो सकती है। क्षमा दे और ले नहीं तो देने वाला बड़ा और नहीं देने वाला छोटा हो जाता है। उसमें मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री उसमें हो सकती है, जो क्षमा दे और क्षमा ले।

महाराज प्रद्योत ने कहा–'क्या कोई बंदी क्षमा दे सकता है?' उद्रायण आगे बढ़ा और प्रद्योत को मुक्त कर उसे अपने बराबर बिठा लिया। दोनों हृदय स्नेह की शृंखला से बंध गए।

स्नेह का धागा एक और अविच्छिन्न है। उसमें असंख्य दिलों को एक साथ बांधने की क्षमता है।

उस दीप को बुझाने में कितनी देर लगेगी, जिसमें स्नेह बच नहीं रहा है। उस पुष्प को मुरझाने में कितनी देर लगेगी, जिसमें रस बच नहीं रहा है।

स्नेह जीवन के हिमालय का वह प्रपात है, जो निरंतर बहता है और धरती के कण-कण को अभिषिक्त, अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है।

स्नेह जीवन के सूर्य का वह प्रकाश है, जो गहन अंधकार को भेदकर मानस की हर सतह को आलोक से भर देता है। जिसके जीवन की गहराई में स्नेह की सरिता प्रवाहित नहीं है, वह क्या क्षमा करेगा?

क्षमा का शब्दोच्चार क्षमा नहीं है। दुर्बलता और अल्पताओं को स्नेह की महान धारा में विलीन करने की जो क्षमता है, वही क्षमा है। गंगा कितने गंदे नालों को अपने में मिला पवित्र बना लेती है। यह क्षमता किसी नाले की धारा में नहीं हो सकती। क्षमा का अर्थ है स्नेह की असीमता, असीमता और इतनी असीमता कि जिसमें कोई भूल या कोई भी अपराध अपनी विशालता प्रदर्शित न कर सके। धर्म की आत्मा है स्नेह, प्रेम या मैत्री।

जो शुष्क है, वह कठोर है। कठोरता और धार्मिकता अग्नि और जल की भांति एक साथ नहीं रह सकते। जो चिकना है, वह कोमल है। कोमलता और अधार्मिकता अग्नि और जल की भांति एक साथ नहीं रह सकते।

क्या आप मुझे उन धर्मों को धर्म कहने की स्वीकृति देंगे, जो मनुष्य को मनुष्य के प्रति कठोर बना रहे हैं, मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रहे हैं, मनुष्य के प्रति मनुष्य के मन में घृणा भर रहे हैं और अपनी सुरक्षा के विस्तार के लिए मनुष्य से मनुष्य की बलि मांग रहे हैं। जो धर्म आत्मा की पवित्र वेदी से हटकर जातीय परंपरा से एक-रस हो जाता है, वह स्नेह के बदले रुक्षता की धारा प्रवाहित करता है और एकता के बदले विभाजन को बल देता है। ऐसे धर्मों से मनुष्य-जाति बहुत त्रास पा चुकी है। अब हमें उसी धर्म की अपेक्षा है, जिसके अंतःस्तल में स्नेह और वातावरण में क्षमा का अजस्र स्रोत बह रहा है।

2. क्षमा है धर्म की पहली कक्षा

आत्मा को पढ़ने का एक उपाय है स्वाध्याय। यदि हम आत्मा को पढ़ना चाहते हैं तो स्वाध्याय करें। सामान्यतया आजीविका के लिए, शरीर के लिए, व्यवहार के लिए पढ़ाई होती है, पर आत्मा की पढ़ाई नहीं होती। आत्मा का साक्षात्कार बाद में होगा, पहले आत्मा को पढ़ना होगा, आत्मा में प्रवेश करना होगा। आत्मा को पढ़ने के लिए पहली कक्षा है क्षमा, उत्तम क्षमा। क्षमा का मूल अर्थ है अप्रमाद। अप्रमत्त व्यक्ति ही आत्मा को पढ़ सकता है। जहां प्रमाद है, वहां भूल होती है। इसलिए सबसे पहले प्रमाद का परिष्कार करो। हमारा सारा व्यवहार जटिल बनता है प्रमाद के द्वारा। प्रमाद का परिष्कार क्षमा के द्वारा होता है। आगम की एक महत्त्वपूर्ण गाथा है –

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केणइ॥

एक साधनाशील व्यक्ति अपना निरीक्षण अवश्य करेगा। उस समय उसे अपनी भूल का भी अनुभव होगा। सामने कोई व्यक्ति आया, एक स्पष्ट निर्देश होगा–भाई! मुझसे भूल हुई है, तुमसे भी भूल हुई है, क्योंकि मैं भी प्रमादी हूं, तुम भी प्रमादी हो। अगर अप्रमत्तता हो तो भूल नहीं होती। सारी भूल प्रमत्त दशा में होती है। अब क्या करें? भूल को याद करता रहे या उसका परिष्कार करे? आत्मा के पास जाना है, आत्मा को साक्षात् देखना है तो हमें भूलों का परिष्कार करना होगा, क्षमा को स्वीकार करना होगा। मेरी भूल हुई है तो तुम क्षमा करो और अगर तुम्हारी भूल हुई है तो मैं क्षमा करूंगा। दोनों ओर से क्षमायाचना होगी। हम दोनों क्षमा करें, भूल को सहन करें और मैत्री कर लें।

फ्रांस का सेनापति टहल रहा था। सामने एक सैनिक आया। शराब के नशे में चूर था। उसे कुछ भी भान नहीं था। सेनापति ने देखा–मेरी सेना का एक सदस्य इस प्रकार नशे में चूर है। उसे पता ही नहीं है कि सेनापति आ रहा है। उसने उसके गाल पर थप्पड़ मार दिया। वह जागा और उस स्थान से चला

गया। सेनापति भी चला गया। सेनापति के मन में एक विकल्प उठा कि मेरा यह व्यवहार अच्छा नहीं रहा। मैं सेनापति हूं, मुझे ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। किसी के गाल पर थप्पड़ मारना अच्छा नहीं है। मैंने अच्छा कार्य नहीं किया। उसको बुलाया, बुलाकर कहा–मैंने तुम्हारे साथ कल क्या व्यवहार किया? क्या तुमको याद है? सैनिक ने कहा–हां, याद है। अब उसे तुम भूल जाओ। मैं तुम्हें पांच फ्रैंक (फ्रांस का एक सिक्का) देता हूं। क्या अब तुम इस बात को भूल सकोगे? सैनिक मौन रहा। दस फ्रैंक देता हूं। सैनिक बोला–सर! यह फ्रैंकों से भुलाने वाली बात नहीं है। इस घटना को कभी भी फ्रैंकों से नहीं भुलाया जा सकता। सेनापति खड़ा हुआ और कहा–फ्रैंकों से नहीं भुलाया जा सकता तो आओ, गले मिलें। दोनों गले मिले। सब साफ हो गया, फिर कुछ भी मलिनता नहीं रही। जब मिलन हो गया तो सब समाप्त हो गया। भूल का मूल्य, अपराध का मूल्य कभी पैसे से नहीं चुकाया जा सकता। भूल को सहन किया जा सकता है। दोनों ओर से सहन करें तो विकास हो सकता है। आजकल विदेशों में भी 'क्षमा' पर बहुत कार्य हो रहा है। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में फॉर्गिवनेस पर एक कान्फ्रेंस आयोजित की गई। उसमें मुख्य रूप से इस पर चर्चा हुई कि क्षमा करो और भूल जाओ। हमारे यहां तो यह बात सामान्य है, पर विदेशों में इसे एक 'नए कॉन्सेप्ट' के रूप में देखा जा रहा है। वहां क्षमा के लिए बड़ी धनराशि खर्च की जा रही है। ऑस्ट्रेलिया में 'ब्रज लेलुआ फाउंडेशन' ने क्षमा-सप्ताह मनाया। सचमुच 'क्षमा' एक शाश्वत मूल्य है। उससे जीवन सरल बनता है और समाज के वातावरण में भी सकारात्मक परिवर्तन आता है।

'उत्तम' विशेषण क्यों?

आचार्य उमास्वाति ने क्षमा आदि दस धर्मों के साथ 'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया है। यहां उत्तम का तात्पर्य है कि मुनि की क्षमा एक गृहस्थ से अधिक होनी चाहिए। दोनों में भेदरेखा खींचने के लिए उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है। उत्तम क्षमा यानी मुनि की क्षमा। गृहस्थ के साथ अनेक समस्याएं जुड़ी रहती हैं। कितने लोगों से उसका संबंध रहता है। वह कोई साधक भी नहीं है कि निरंतर साधना करे। क्षमा का एक अर्थ है क्रोध का निग्रह करना। एक गृहस्थ क्रोध का निग्रह भी उतना नहीं कर सकता। एक गृहस्थ उतनी क्षमा का अभ्यास नहीं कर सकता, जितना एक मुनि को करना चाहिए। इसलिए क्षमा शब्द के साथ उत्तम शब्द प्रयुक्त हुआ है।

क्षमा : सहिष्णुता

क्षमा का एक अर्थ है सहन करना। जितना सहन एक मुनि को करना चाहिए उतना गृहस्थ नहीं कर सकता, क्योंकि उसने उस व्रत को, साधना को स्वीकार नहीं किया है। इसलिए यह उत्तम क्षमा मुनि के लिए है।

क्षमा : तितिक्षा

क्षमा का एक अर्थ है तितिक्षा। सामान्यतया कहा जाता है कि उसमें तितिक्षा है, सहन करने की क्षमता है, लेकिन क्षमा एवं तितिक्षा का अर्थ संकुचित नहीं है। तितिक्षा का अर्थ है परिस्थिति को झेलना। सामने जो भी कठिनाई आए, उसे स्वीकार करना, कष्टों में अडिग रहना, धैर्य को नहीं खोना, हर स्थिति में संतुलन बनाए रखना, पानी, रोटी, कपड़ा, स्थान आदि न मिलने पर भी व्यथित नहीं होना। एक क्षमाशील व्यक्ति पानी की उपलब्धि नहीं हुई तब भी प्रसन्न रहता है और उपलब्धि में भी प्रसन्न रहता है। रोटी मिली तो भी प्रसन्न और न मिली तो भी प्रसन्न, स्थान मिला तो भी खुश न मिला तो भी खुश। भक्ति भाव से आहार दिया गया तो भी राजी, गाली देते-देते दिया गया तो भी राजी।

क्षमा की विशेष साधना

प्राचीनकाल में कुछ मुनि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने क्षमा की विशेष साधना की। उनका अभिग्रह होता–कोई गाली देते-देते आहार देगा तो ग्रहण करूंगा, नहीं तो उपवास करूंगा। बड़ा विचित्र अभिग्रह होता। ऐसे लोग भी मिल जाते, जो कहते–देखो जवान है, हट्टा-कट्टा है और भीख मांग रहा है। यह कहते-कहते रोटी देते। अलग-अलग प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती।

मुनि जा रहे थे। दो किसान मिले। दोनों ने मुनि को देखा। एक बोला –

मुंडित माथो पाग सिर नाही,
कड़ब हुसी पण सिट्टा नाही।
एक देख नै हुयो खुशी,
मोड रै माथै जिसा सिट्टा हुसी॥

बहुत बुरा हो गया। कैसा अपशकुन हुआ है। ऐसा साधु मिला है, जिसका सिर मुंडित है और सिर पर पगड़ी भी नहीं है। इसका तात्पर्य है बाजरी तो होगी, पर सिट्टे नहीं होंगे। शकुन अच्छा नहीं हुआ। साधु कुछ आगे चला। दूसरा किसान मिला। बोला–बहुत बढ़िया शकुन हुआ है। आज तो एक साधु मिल

गया। बड़ा अच्छा हुआ। उसका सिर बहुत बड़ा है। इस बार बहुत बड़े-बड़े सिट्टे होंगे। उसकी सकारात्मक भावना थी। दोनों के खेत पास में थे। जैसा कहा, वैसा हुआ। एक के कणवी तो हो गई, पर सिट्टा नहीं हुआ और एक के माथे जैसे बड़े-बड़े सिट्टे हो गए। एक किसान खुश हो गया और दूसरा उदास। दोनों प्रकार की कल्पनाएं की जा सकती हैं। कोई राजी होता है, कोई नाराज होता है। कोई गाली देता है, कोई सम्मान करता है। इन सबको सहना ही तितिक्षा है। यह उत्तम क्षमा है।

पर्युषण की आराधना मूलतः साधु-साध्वियों के लिए है। गृहस्थ तो प्रासंगिक रूप में सहभागी बनते हैं। यह उत्तम क्षमा आदि की आराधना का, पर्युषण की आराधना का विधान मूलतः साधु के लिए है। हमें इस बात को स्मृति में रखना है और इसका विकास करना है।

क्षमा का परिणाम : मैत्री

क्षमा का परिणाम है मैत्री। एक व्यक्ति सहन करना नहीं जानता। भूलना नहीं जानता, उसमें तितिक्षा भी नहीं है और परिस्थितियों को झेलने की क्षमता भी नहीं है तो वह मैत्री का विकास कभी नहीं कर सकता। यह मैत्री का संबंध प्राणिमात्र के साथ होता है। मैत्री तभी संभव है जब व्यक्ति भूलना जानता है और सहन करना भी जानता है। भगवान महावीर के जीवन में अनेक कष्ट आए, उन्होंने उनको सहन किया, क्योंकि उनके भीतर मैत्री का विकास हो गया था। वे कष्ट देने वालों को भी अपना मित्र मान रहे थे।

संगम दुःख दिया आकरा पिण, सुप्रसन्न निजर दयाल,
जग उद्धार हुवै मो थकी रे, ए डूबै इण काल॥

संगम देव कष्ट दे रहा था, उस समय महावीर क्या चिंतन कर रहे थे? जयाचार्य ने लिखा है–संगम तो दुःख दे रहा है और महावीर की दृष्टि प्रसन्न है। न राग है, न द्वेष। सामान्यतया राग में खुशी होती है, द्वेष में नाराजगी होती है। जहां ये दोनों नहीं होते, वहां प्रसन्नता होती है। महावीर की दृष्टि प्रसन्न थी, निर्मल थी। महावीर के भीतर करुणा का स्रोत प्रस्फुटित हो रहा था। जयाचार्य लिखते हैं–संगम की क्रूरता देख महावीर सोच रहे थे कि देखो, मुझे निमित्त बनाकर लोग तर रहे हैं और मुझे ही निमित्त बनाकर बेचारा संगम डूब रहा है। यह करुणा का चिंतन है। यह है उत्तम क्षमा। यह है एक मुनि की चर्या।

निदर्शन जयाचार्य का

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य थे आचार्य जय। उन्होंने आत्मा को पढ़ा था और वे स्वाध्याय से आत्मानुभूति में चले गए। जयाचार्य ने आगमों का अध्ययन किया। केवल अध्ययन ही नहीं किया, उनका दोहन किया। वे आज भी हमारे लिए मननीय हैं। आगमों की व्याख्या में उन्होंने अनेक नई बातें जोड़ी। भगवती सूत्र जैसे महान आगम की जोड़ (पद्यानुवाद) कर राजस्थानी वाङ्मय को समृद्ध बनाया। जयाचार्य ने आगमों का खूब मंथन किया। उनका स्वाध्याय किया। आत्मा को देखने के लिए एक घंटा, दो घंटा, तीन घंटा तक कानों में कुछ डालकर वे एकदम एकांत में चले जाते। सबके बीच में रहते हुए भी एकांत में चले जाते, आत्मा में रम जाते।

जयाचार्य की सहनशक्ति भी बहुत विलक्षण थी। जयाचार्य के जीवनवृत्त को जानने वाला, इतिहास को जानने वाला जानता है कि उन्होंने बाहर की समस्या को ही नहीं, भीतर की समस्या को भी सहन किया। उनके साथ में रहने वाले कुछ साधु और कुछ साध्वियां भी काफी प्रतिकूल हो गए थे। जयाचार्य ने उन सबको सहन किया। जो सहन करना जानता है, वह सफल हो जाता है। वह व्यक्ति कभी अस्त नहीं होता, जो सहन करना जानता है। जो क्रोध के आवेश में रहता है, वह एक बार थोड़ा चमक भी सकता है, पर चमक ज्यादा ठहरती नहीं, वह जल्दी ही अस्त होना भी शुरू हो जाता है।

जयाचार्य ने आत्मा को पढ़ा। हम भी आत्मा को पढ़ें, क्षमा को पढ़ें। हमें क्षमा का अध्ययन करना है। क्षमा का अध्ययन करने के लिए आगमों का भी अध्ययन करना है। आगम ऋषि-मुनियों की वाणी है। एक लेखक बुद्धिमान होता है, लिखता है, उसकी बात ऊपर-ऊपर रहती है, हृदय को नहीं छूती। एक व्यक्ति, जिसने जीवन में साधना की है और अनुभव किया है, वह जो भी लिखता है, अनुभव की भाषा में लिखता है, उसकी बात सीधी हृदय तक पहुंच जाती है। जयाचार्य विशिष्ट तथ्यों का बार-बार अनुशीलन करते रहते, मंथन करते रहते और अनुप्रेक्षा करते रहते। करते-करते कभी-कभी नई बात ध्यान में आती, तब कहते–मघजी! आज एक रत्न मिला है। वे रत्नों के खोजी थे। उन्हें अपने जीवन में अनेक रत्न मिले। उन रत्नों का संग्रह कर पूरे संघ को लाभान्वित किया।

आज तेरापंथ धर्म संघ में आचार्य भिक्षु के बाद जयाचार्य का नाम विशेष कर्तृत्व के साथ आता है। ऐसा लगता है कि आचार्य भिक्षु और जयाचार्य दो

नहीं थे। आचार्य भिक्षु को सिद्धांत के साथ प्रस्तुत करने का काम आचार्य जय ने किया था। वही काम आचार्य तुलसी ने किया। आचार्य भिक्षु को आज के दार्शनिक जगत में प्रस्तुत करने का काम आचार्य तुलसी ने किया और मैं भी इस कार्य में बराबर उनका सहभागी रहा हूं। प्रत्येक व्यक्ति चिंतन करे कि मुझे आत्मा की आराधना करनी है, इसलिए मैं स्वाध्याय करूं, आत्मा को पढ़ने का प्रयास करूं और पहली कक्षा में भर्ती हो जाऊं। जो पहली कक्षा में उत्तीर्ण हो गया उसके आगे का रास्ता साफ हो जाता है। उसके लिए आगे की पढ़ाई सरल हो जाती है। सबसे ज्यादा कठिन है पहली कक्षा में उत्तीर्ण होना। आज व्यक्तित्व निर्माण, समय प्रबंधन, तनाव प्रबंधन आदि की अनेक कक्षाएं चलती हैं। कोई पहली कक्षा में प्रवेश लेकर यदि उत्तीर्ण हो जाता है तो उसका जीवन एक नए प्रकार का जीवन बनेगा। नए जीवन का निर्माण होगा। वह इतना आनंददायी होगा, जिसकी शायद हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हम चिंतन करें कि वह आनंद का जीवन, वह आनंद का क्षण हमारी सहनशीलता के द्वारा, क्षमा के द्वारा, मैत्री के द्वारा प्रकट हो।

3. सहिष्णुता : आराधना और विराधना

मनुष्य की प्रकृति एकरूप नहीं होती, नाना रूप होती है। क्षमा या सहिष्णुता के संदर्भ में भी मानवीय प्रकृति के विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन किया जा सकता है। सहिष्णुता का विकास करो, यह एक सामान्य बात है, किंतु सहिष्णुता और मानवीय प्रकृति दोनों का जब योग करते हैं तब कुछ नए तथ्य सामने आते हैं।

आराधना-विराधना

आराधना और विराधना–ये साधना के क्षेत्र के दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। जो लक्ष्य बनाया, उसके अनुरूप आचरण और व्यवहार करते हैं, वह कार्य सिद्ध होता है, वह है आराधना। आराधना के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। विराधना के समय हम उस लक्ष्य से थोड़े दूर चले जाते हैं, लक्ष्य की स्मृति नहीं रहती। लक्ष्य के विपरीत काम करते हैं तो वह उस आचरण के विषय में विराधना हो जाती है।

देश विराधक

आगमकार ने सहिष्णुता की आराधना, सहिष्णुता की विराधना और मानवीय प्रकृति का एक सुंदर चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है। एक व्यक्ति साधु बन गया, गृहवास को छोड़ दिया और सहिष्णुता की साधना कर रहा है, पर अभी तक समग्रता की दृष्टि सामने नहीं है। जहां लक्ष्य के प्रति समग्रता का भाव होता है, वहां आराधना समग्र होती है और जहां लक्ष्य के प्रति समग्रता का भाव नहीं होता, व्यग्रता होती है, एकांगिता होती है, वहां विराधना हो जाती है। एक साधु क्षमा का विकास कर रहा है, सहिष्णुता को महत्त्व दे रहा है, आगे बढ़ रहा है, परंतु अभी तक एकांततः सफल नहीं हो रहा है। व्यग्रता में सफल हो रहा है, पर समग्रता में सफल नहीं हुआ। उसका जो चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होगा, वह यह है कि वह अपने पार्श्ववर्ती साधुओं और साध्वियों को सहन कर लेता है, श्रावक-श्राविकाओं को भी सहन कर लेता है, किंतु उसके

सामने किसी अन्यतीर्थिक यानि दूसरे संप्रदाय के साधु अथवा गृहस्थ का प्रश्न आता है, वहां उसकी सहनशीलता समाप्त हो जाती है। वहां वह सहिष्णु नहीं रह पाता, उत्तेजना में आ जाता है।

हमारे संघ में ऐसे मुनि हुए हैं कि जहां दूसरे संप्रदाय के लोग विरोध करते तो वे उत्तेजना में आ जाते। यह मानवीय दुर्बलता है या यह कहें कि प्रकृति की दुर्बलता है। जब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बनता, तब तक यह दुर्बलता भी रहती है, किंतु साधना के क्षेत्र में यह मान्य नहीं है। जहां शुद्ध आध्यात्मिक चिंतन है वहां चाहे कोई अपने संप्रदाय का हो या किसी दूसरे संप्रदाय का, वहां कमी को कभी मान्यता नहीं दी जा सकती। कमी कमी है, प्रमाद प्रमाद है, उसको मूल्य नहीं दिया जा सकता। आगमकार लिखते हैं कि वह समग्र रूप में सहिष्णुता की आराधना करने वाला नहीं है, अंश रूप में उसकी विराधना करने वाला है। क्षमा की आंशिक रूप में विराधना करने वाला देश विराधक कहलाता है।

एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरिय - उवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं य सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ, बहूणं अण्णउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं नो सम्मं सहइ जाव नो अहियासेइ–एस णं मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते।

देश आराधक

दूसरा चित्र हमारे सामने इस प्रकार है। एक साधु ऐसा है, जो अन्य संप्रदाय के साधुओं को या गृहस्थों को सहन कर लेता है, किंतु अपने आस-पास रहने वाले साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकाओं को सहन नहीं करता। ऐसा होता भी है। दो भाई हैं। अपने भाई को सहन नहीं करता, पर पड़ोसी को सहन कर लेता है। भाई भाई को सहन नहीं करता, अपने मित्र को सहन कर लेता है। माता-पिता को सहन नहीं करता, दूसरों को सहन कर लेता है। साधु-साध्वियां भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनमें भी कुछ ऐसे होते हैं, जो जिस वर्ग में हैं, जिस सिंघाड़े में हैं, उसको सहन नहीं करते। दूसरे सिंघाड़े वाले को सहन कर लेते हैं। दूसरे वर्ग के साथ बहुत प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। यह भी प्रकृति का ही वैचित्र्य है कि आस-पास वालों को अथवा अपने निकटवर्ती व्यक्तियों को सहन नहीं करता, पर दूसरों को सहन कर लेता है। क्षमा के संदर्भ में उसके

लिए एक शब्द का चयन किया गया–देश आराधक। वह संपूर्ण आराधक नहीं होता। पहला देश विराधक है यानि वह कुछ लोगों की विराधना करने वाला है और दूसरा अपने संघ की विराधना कर रहा है। उसकी आराधना अल्प होती है, इसलिए देश आराधक है। पहला भी क्षमा धर्म की समग्र आराधना करने वाला नहीं है, दूसरी कोटि का व्यक्ति भी क्षमा धर्म की, सहिष्णुता की समग्र आराधना करने वाला नहीं है।

एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरिय - उवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे बहूणं अण्णउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं सम्मं सहइ, खमइ तितिक्खइ अहिसायेइ, बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं साावियाणं य नो सम्मं सहइ जाव नो अहियासेइ–एस णं मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते।

सर्व विराधक

तीसरे प्रकार का व्यक्ति अलग प्रकार का होता है। वह भी साधु ही है। ऐसा भी कोई साधु होता है, जो न तो अपने गण के साधु-साध्वियों को सहन करता है, न दूसरे संप्रदाय के लोगों को सहन करता है और न गृहस्थों को सहन करता है। वह सहन करना जानता ही नहीं है। जिसका कषाय तीव्र है, जिसने अहंकार और क्रोध को मंद नहीं किया, वह व्यक्ति किसी को सहन नहीं कर सकता। उसके लिए कहा गया कि वह सर्व विराधक होगा। उसमें आराधना का लेश भी नहीं होता, वह परिपूर्ण रूप में विराधना करने वाला होता है। रसोई करने वाले भी यह जानते हैं कि आराधना का मतलब क्या है और विराधना का मतलब क्या है? एक व्यक्ति चावल पकाता है, खिचड़ी बनाता है या कोई भी चीज बनाता है, वह ठीक तरह से सीझ जाती है तो कहते हैं कि चावल सीझ गया, पूरा नहीं सीझता तो कहते हैं कि चावल कच्चा रह गया। कच्चा रहना विराधना है और सीझ जाना आराधना है। रसोई बनाने वाला भी जानता है कि सीझा या नहीं सीझा। साधना और आराधना–दोनों का संबंध परिपाक से है। संस्कृत की धातु है **राधंत् साधंत् संसिद्धौ** यानि सिद्ध होना, सीझ जाना, पक जाना। आराधना का मतलब है जो लक्ष्य बनाया, उसके अनुरूप हमारा आचार, व्यवहार हो रहा है और लक्ष्य पक रहा है, वह हमारी आराधना है। जो लक्ष्य बनाया, उस लक्ष्य के अनुरूप आचरण नहीं हो रहा है, लक्ष्य पक नहीं रहा है, वह हो जाती है हमारी विराधना।

आराधना-विराधना का संदर्भ अलग-अलग होता है। यहां संदर्भ है सहिष्णुता का। यहां सहिष्णुता के संदर्भ में आराधना और विराधना पर विचार किया गया है। एक धार्मिक आदमी सोचता है कि मैं आराधक बनूं, विराधक नहीं। एक विद्यार्थी अध्ययन करता है, समग्रता से अध्ययन करता है, तन्मय होकर अध्ययन करता है तो मानना चाहिए कि वह विद्या की आराधना कर रहा है। एक विद्यार्थी का पढ़ाई में मन नहीं लगता, स्कूल में नाम है, किंतु समग्रता से उसकी आराधना नहीं करता तो विद्या की विराधना हो जाती है। कुछ लोग होते हैं पढ़ने वाले, जिनका मन लगता है, वे शिक्षा में आराधक बन जाते हैं। जिनका मन नहीं लगता, वे विराधक हो जाते हैं। एक लड़का बोला–मां! अब मैं स्कूल नहीं जाऊंगा। पूछा–क्यों? क्या तुम्हारे पास पेंसिल नहीं है, कॉपी नहीं है? बोला–सब है। फिर क्यों नहीं जाएगा? बोला–मेरा मन ही नहीं है और जब मन नहीं होता तो वह विद्या का विराधक बन जाता है। हमें आराधना-विराधना को भी समझना है। लक्ष्य के साथ जिस कार्य को हम करना चाहते हैं, वह नहीं करते बल्कि उसके प्रतिकूल आचार-व्यवहार करते हैं तो उस कार्य के प्रति हमारी विराधना हो जाती है। यहां सहिष्णुता का प्रसंग है। जो व्यक्ति न तो अपने आस-पास को सहन करता है, न दूसरे संप्रदाय को सहन करता है और न गृहस्थ समाज को सहन करता है, वह सर्व विराधक है। वह क्षमा धर्म का परिपूर्ण विराधक है, समग्रता से विराधना करने वाला है। उसके जीवन में क्षमा नाम की कोई चीज नहीं है।

एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं बहूण समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं साावियाणं बहूणं अण्णउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं नो सम्मं सहइ जाव नो अहियासेइ–एस णं मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते।

सर्व आराधक

चौथी कोटि का साधु वह होता है, जो अपने संप्रदाय के साधु-साध्वियों को सहन करता है और श्रावक-श्राविकाओं को भी सहन करता है। अन्य संप्रदाय के साधु को भी सहन करता है और गृहस्थों को भी सहन करता है। वह होता है सहिष्णुता के क्षेत्र में सर्व आराधक। वह क्षमा की समग्रता से आराधना करने वाला, क्षमा की समग्रता से साधना करने वाला होता है। उसे हम कह सकते हैं क्षमा का साधक। साधक शब्द बहुत प्रचलित

है। आराधक और साधक दोनों का एक ही अर्थ है। साधक वह होता है, जो साधना करता है, आराधक वह होता है, जो आराधना करता है। क्षमा का, सहिष्णुता का साधक किसको कहा जाए? जो व्यक्ति सबको सहन करना जानता है, जिसमें इतनी चेतना जागृत है कि वह सबको क्षमा कर देता है, सबको सहन कर लेता है।

एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं य सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ, बहूणं अण्णउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ–एस णं मए पुरिसे सव्वआराहए पण्णत्ते।

सहन क्यों करें?

सहन करना क्यों जरूरी है? इस प्रश्न पर भी हम विचार करें। व्यक्ति अकेला नहीं है। एक समाज है, समुदाय है। वह समुदाय का जीवन जीता है, सबके साथ रहता है। जहां व्यक्ति अकेला है, वहां सहिष्णुता का प्रश्न पैदा नहीं होता। जहां परस्परता है, दो व्यक्ति साथ रहते हैं, वहां सहिष्णुता जरूरी है। सौ-हजार व्यक्ति साथ में रहते हैं, वहां सहिष्णुता का प्रश्न पैदा होता है। एक व्यक्ति की रूचि भिन्न, विचार भिन्न, कार्यप्रणाली भिन्न है। दूसरे व्यक्ति की रूचि, विचार और कार्यप्रणाली भिन्न है। एक व्यक्ति कोई काम करता है, दूसरे को वह पसंद नहीं आता तो वह उसको कहता है–तूने यह काम अच्छा नहीं किया, अनावश्यक किया। अभी क्या जरूरी था? बस इतने में तो महाभारत हो जाता है। मुझे क्यों कहा गया? तुम मुझे कहने वाले कौन हो? दूसरा कुछ भी कहता है वहां सामने वाले का अहंकार फुफकारने लग जाता है। अहंकार भयंकर नाग है। क्या मैं नहीं जानता, क्या कहने वाला ज्यादा जानता है? या कहने वाला स्वयं वीतराग है, क्या वह कोई भूल नहीं करता? वह स्वयं भूल करता है तब मैं नहीं कहता तो मेरी भूल हुई तो वह मुझे कहने वाला कौन है?

मानवीय प्रकृति

हम मानवीय प्रकृति का विश्लेषण करें तो इस प्रकार की मनोवृत्ति के अनेक लोग मिलेंगे। एक रेल के डिब्बे में दो आदमी बैठे थे, पास में बैठा व्यक्ति सिगरेट पी रहा था, इतने में दूसरे बोला–ध्यान नहीं रखते हो, तुम्हारी

कमीज सिगरेट से जल रही है। बोला– बड़ा विचित्र आदमी है। पहले तुम्हारा रुमाल जल गया तो मैंने कुछ नहीं कहा। अब मेरी कमीज थोड़ी-सी जल गई और तुम इतने जोर-जोर से कहने लग गए। अब इसमें कौन-सी बुरी बात थी। बुरी बात तो नहीं थी, पर सहन करने की क्षमता नहीं है तो अच्छी और हितकारी बात भी गलत लगने लग जाती है।

जरूरी है आत्मनिरीक्षण

यदि हम घटनाओं का संग्रहण करें और फिर उनका विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि अच्छी बात सुनाने वालों को भी बहुत सहन करना पड़ता है। बहुत बार सामने वाला सम्यक् ग्रहण नहीं करता, उल्टा ग्रहण करता है। उसका पहला वाक्य होगा–मुझे क्यों कहा? दूसरा वाक्य होगा–क्या मैं नहीं जानता? मुझे सीख क्यों दे रहा है? अब देखता हूं कि यह कब भूल करता है? मुझे इसका प्रतिशोध लेना है, बदला लेना है। इस प्रकार विचारों की एक शृंखला बन जाती है। इसका कारण है–सहिष्णुता की चेतना जागृत नहीं है। इसीलिए इस प्रकार का सारा मनोभाव बनता है। जब तक व्यक्ति सहिष्णुता के आलंबन-सूत्रों का और चिंतन-सूत्रों का सम्यक् प्रयोग नहीं करता, अभ्यास नहीं करता, तब तक दूसरे की बात को सहन नहीं कर सकता, अपनी माता की बात को भी सहन नहीं कर सकता। पिता की बात को भी सहन नहीं करता। सास बहू की बात को नहीं सहती। इतना ही नहीं, बहू भी सास की बात को सहन नहीं करती। दोनों ओर से असहिष्णुता का वातावरण बनता रहता है।

एक सास बहुत झगड़ालू थी। बहू बहुत अच्छी बात कहती तो भी सहन नहीं करती। एक दिन काफी झगड़ा किया और पड़ोस तक सुनाई देने लगा। पड़ोसन आई और आकर बोली–आज क्या हुआ? तुम इतनी तेज क्यों बोल रही थी? वह बोली–क्या बताऊं? बताने जैसी बात नहीं है। सारा जीवन लड़ाई-झगड़े में ही चल रहा है, कभी शांति का अनुभव नहीं करते हैं। जब मैं बहू थी तो मेरी सास अच्छी नहीं थी। अब मैं सास बन गई तो मेरी बहू अच्छी नहीं आई। कैसे सहन करूं? जहां इस प्रकार की मनोवृत्ति बनती है, वहां आत्मालोचन करना चाहिए। आखिर आदमी आदमी है। हर आदमी में कमी है। वहां यह सोचना चाहिए कि मैं कैसी हूं? वहां अपने आप को बिल्कुल उपेक्षित कर दिया। सास अच्छी नहीं है, यह बात भी ठीक है। बहू अच्छी नहीं है, यह बात भी ठीक है, किंतु मैं स्वयं कैसी हूं, इसे भुला दिया जाता है। दूसरों को तो हम देख लेते हैं और स्वयं को बिल्कुल अलग कर देते हैं। अगर

वहां यह सोचे कि मैं कैसी हूं? तो शायद एक आलंबन बनता है क्षमा धर्म का, क्षमा के विकास का, सहिष्णुता के विकास का। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपना विश्लेषण करे। अपना आत्मालोचन करे, आत्म निरीक्षण करे और जो भी कमियां आएं, उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न करे तो क्षमा धर्म की, सहिष्णुता की आराधना होगी।

सहिष्णुता के आलंबन-सूत्र

सहिष्णुता के विकास का महत्त्वपूर्ण आलंबन है–आत्मालोचन, समीक्षा और विमर्श। उसके बाद अपनी भूल को स्वीकार कर उसका परिष्कार करना। अगर इतना-सा लक्ष्य बन जाए तो शायद सहिष्णुता की चेतना जागृत हो सकती है, उसका विकास हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति चिंतन करे कि अगर मैं सहिष्णुता का अभ्यास नहीं करूंगा या सहिष्णुता का व्यवहार नहीं करूंगा तो पाप कर्म का बंध मेरे होगा। किसी दूसरे के नहीं होगा। अध्यात्म का इससे बढ़िया आलंबन सूत्र दूसरी जगह नहीं मिलेगा। धार्मिक आदमी के लिए पाप कर्म का बंध एक भारी समस्या होती है। एक धार्मिक व्यक्ति को यह चिंतन करना चाहिए कि मैं सहन करूंगा तो मेरी सहिष्णुता बढ़ेगी और मुझे एकांततः निर्जरा होगी। मैं सहन करूंगा तो मेरा आत्मशोधन होगा। यह चेतना जागती है तो आदमी सहिष्णुता का विकास कर सकता है।

एक होता है देश विराधक, दूसरा है देश आराधक, तीसरा है सर्व विराधक और चौथा है सर्व आराधक। इन चारों शब्दों को सामने रखकर हम सहिष्णुता की मीमांसा करें, उसकी पर्यालोचना करें और यह संकल्प करें कि मुझे साधक बनना है और सहिष्णुता का सर्वाराधक बनना है। यह किसी दूसरे के नहीं, मेरे स्वयं के हित में है। इससे मेरी आत्मा का भी हित होगा, मेरा व्यक्तित्व भी अच्छा बनेगा, मेरी उपादेयता भी अधिक होगी और मेरा एक नया अनुकरणीय रूप बनेगा। इस समग्र चिंतन के साथ अगर हम समग्र आराधना करें और सहिष्णुता के सर्वाराधक बनें तो यह अध्यात्म का सूत्र समाज के क्षेत्र में भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जहां-जहां नेतृत्व और व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है वहां यदि सहिष्णुता की सर्वाराधना की बात और जुड़ जाए तो समाज में बहुत शांति और समृद्धि हो सकती है।

4. सहिष्णुता और शक्ति

सहिष्णुता का अर्थ है–सहन करना। इसका दूसरा अर्थ है शक्ति। दोनों अर्थों के योग से ही सहिष्णुता मनुष्य के लिए उपयोगी बनती है। शक्ति-शून्य सहिष्णुता परवशता हो सकती है, अपनी स्वतंत्र चेतना की स्फूर्ति नहीं। जहां शक्ति के साथ सहिष्णुता होती है, वहां मानवीय चेतना का स्पर्श होता है। उसमें न अहंभाव होता है और न हीनभाव। अहंभाव और हीनभाव विषमता है। इससे मानवीय अंतःकरण का स्पर्श नहीं होता। स्पर्श समता में है। प्रकृति का वैषम्य मानवीय संबंधों को विच्छिन्न करता है। एक का दूसरे के साथ संबंध तभी हो सकता है, जबकि दोनों ओर से साम्य हो, न हीनभाव हो और न अहंभाव हो। अध्यात्म योग और क्या है? यह साम्य ही तो अध्यात्म-योग है। आचार्य सोमदेव सूरि ने आत्मा, मन, मरुत् और तत्त्व के समतापूर्ण संबंध को ही अध्यात्म-योग माना है –**आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो हि अध्यात्मयोगः।**

सहिष्णुता अपेक्षित क्यों?

जितने मनुष्य हैं, वे रुचि, विचार, संस्कार व कार्य की दृष्टि से सम नहीं हैं। वे बाह्य आकार से एक समान न हों तो कोई कठिनाई नहीं, पर रुचि आदि सम नहीं हों तो उससे कठिनाई पैदा होती है। उस कठिनाई का निवारण सहिष्णुता के द्वारा ही किया जा सकता है। असहिष्णुता आते ही स्थिति गड़बड़ा जाती है। एक बार हाथ, जीभ, दांत, पैर आदि एकत्र हुए। सबने निर्णय किया कि हम सब काम करते हैं, पर पेट कुछ नहीं करता। जो हमारे साथ श्रम न करे, योग न दे, उसका हमें सहयोग नहीं करना चाहिए। सबने हड़ताल कर दी। एक दिन बीता, दो दिन बीते। हाथों में श्लथता आ गई, जीभ का स्वाद बिगड़ गया, मुंह थूक से भर गया, दांतों में मैल जम गया, बदबू आने लगी। तीसरे दिन सब मिले और हड़ताल समाप्त कर दी।

हर व्यक्ति में रुचि का भेद होता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि यदि भिन्न हो तो परिवार में पचास व्यक्तियों के लिए पचास प्रकार के साग चाहिए। ऐसा

संभव नहीं। इस असंभवता को मिटाने के लिए रुचि का सामंजस्य आवश्यक होता है। यह रुचि का सामंजस्य ही सहिष्णुता है, इसके अभाव में योग नहीं, वियोग की स्थिति हो जाती है।

संघीय शक्ति के निर्माण और सुरक्षा के लिए सहिष्णुता अत्यंत अपेक्षित है। जो प्रमुख हो उसके लिए और अधिक। श्रीकृष्ण गणतंत्र के प्रमुख थे। अक्रूर और भोजवंशी नरेश विरोधी दल के नेता थे। वे भी कृष्ण पर तीव्र प्रहार करते थे। एक दिन कृष्ण उनकी आलोचना से खिन्न हो गए थे। उसी समय अकस्मात् नारदजी आ गए। पूछा–'उदास क्यों हो?' कृष्ण ने उत्तर दिया–'इनसे मैं तंग आ गया हूं। कोई मार्ग बताइये, अब क्या करूं?' नारद ने कहा–'दो आपदाएं होती हैं–बाह्य और आंतरिक। आपके सामने आंतरिक आपदा है। बाह्य आपदा को व्यक्ति शस्त्र से दूर कर सकता है। आंतरिक आपदा में शस्त्र काम नहीं देता।' 'तो फिर क्या किया जाए?' तब नारद ने अनायस शस्त्र से उनकी जीभ बंद करने की सलाह दी। उन्होंने कहा –

अनायसेन शस्त्रेण, मृदुना हृदयच्छिदा।
जीह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च॥

शस्त्र एक ही प्रकार का नहीं होता। बादशाह ने बीरबल से पूछा–'शस्त्र क्या है?' बीरबल ने उत्तर दिया–'अवसर।' बादशाह ने कहा–'क्या कह रहे हो? तलवार, भाला, तोप–ये तो शस्त्र हो सकते हैं, पर अवसर शस्त्र कैसे?' बीरबल ने कहा–'कभी प्रमाणित करूंगा।' एक दिन बादशाह की सवारी निकल रही थी। हाथी उन्मत्त हो दौड़ने लगा। बीरबल ने आगे बढ़ चारों तरफ देखा, एक कुत्ते के सिवाय कुछ नहीं था। तत्काल उसने कुत्ते की टांग पकड़कर घुमाया और हाथी पर दे मारा। हाथी वापस मुड़ गया। क्या कुत्ता शस्त्र होता है? पर अवसर था, कुत्ता शस्त्र बन गया। शास्त्र भी कभी-कभी शस्त्र बन जाते हैं। शास्त्र और शस्त्र में केवल एक मात्रा का भेद है।

अनायस शस्त्र क्या?

शब्दों की चर्चा और शास्त्रों के प्रमाण से मनुष्य जितना पथमूढ़ बनता है, उतना शस्त्र से भी नहीं बनता। कभी-कभी प्रयोग में शास्त्र भी शस्त्र जैसा बन जाता है।

कृष्ण ने पूछा–'अनायस शस्त्र क्या है?' इस पर नारद ने कहा–

शक्त्यान्नदानं सततं, तितिक्षार्जवमार्दवं।
यथार्हप्रतिपूजा च, शस्त्रमेतदनायसम्॥

'विरोधियों को जितना दे सकें, अन्न दें। तितिक्षा रखें अर्थात् उनके शब्द सुन तत्काल आवेश में न आएं। ऋजुता का व्यवहार करें। मृदुता रखें। बड़ों का सम्मान करें। यह अनायस शस्त्र है, बिना लोहे का शस्त्र है।'

नारद ने कहा–'इस शस्त्र से आप उनको वश में कर सकते हैं।'

कृष्ण–'क्या मैं कमजोर हूं? क्या मुझमें शक्ति नहीं है, जो उनकी बातों को सहन करूं?'

गाली देने वाला प्रतिक्रिया में गाली इसलिए देता है कि क्या मैं कमजोर हूं? तत्काल अहंभाव उभर आता है। व्यक्ति प्रतिक्रिया में चला जाता है। नारद ने कहा कि जो महान होता है, वही सहन कर सकता है–

नाऽमहापुरुषः कश्चित्, नाऽनात्मा नाऽसहायवान्।
महतीं धुरमाधत्ते, तामुद्यम्योरसावहः॥

धुरा को आपको चलाना है। जो महान नहीं, वह सहन नहीं कर सकता, जो आत्मवान नहीं, वह सहन नहीं कर सकता। जो सहाय-संपन्न नहीं, वह सहन नहीं कर सकता। क्या आप महान, आत्मवान और सहाय-संपन्न नहीं हैं? कमजोर व्यक्ति कभी सहिष्णु नहीं बन सकता। सहिष्णु वही बन सकता है, जो शक्तिशाली होता है। पर्दे का होना और धूप का न आना दोनों जुड़े हुए हैं। वैसे ही शक्ति का होना और क्रोध का न होना दोनों जुड़े हुए हैं।

सहिष्णुता बनाम प्रमोद-भाव

मानसिक शांति के लिए सहिष्णुता आवश्यक है। यह प्रमोद-भावना का बड़ा अंग है। गुणी के गुणों को देख मन में प्रसन्न होना, ईर्ष्या न करना प्रमोद-भावना है। जहां सहिष्णुता होगी वहां प्रमोद-भावना का विकास होगा।

एक करोड़पति परिवार था, हर दृष्टि से संपन्न। उनमें एक व्यक्ति प्रमुख रूप से काम देखता था, शेष उसके सहयोगी थे। उनके दिल में एक विचार आया। यह तो केवल आज्ञा चलाता है। व्यापार हम करते हैं, नाम इसका होता है। असहिष्णुता का भाव आया और सब अलग-अलग हो गए। परिणाम यह हुआ कि जो प्रमुख था, वह तो कुशल था, इसलिए उसने कुशलता से अपना काम पुनः जमा लिया। शेष कठिनाई में पड़ गए।

दूसरों को नीचा दिखाने का भाव भी असहिष्णुता से आता है। एक सेठ के घर दो पंडित आए। एक पंडित कार्यवश इधर-उधर गया। सेठ ने दूसरे से पहले का परिचय पूछा। उसने कहा कि 'मेरा अधिक संपर्क नहीं है, अभी साथ

हुए थे। लगता है यह तो बना-बनाया बैल है।' पहला पंडित आया तो दूसरा किसी कार्यवश बाहर गया। उससे दूसरे पंडित का परिचय पूछा गया तो उत्तर मिला–'यह तो पंडित क्या है, गधा है।' सेठ ने भोजन के समय एक के सामने चारा और एक के सामने भूसा रख दिया। पंडितों ने अपना अपमान समझा। सेठ ने कहा–'मुझे तो यही परिचय मिला था।' दोनों पंडितों के सिर झुक गए।

किसी भी क्षेत्र में चले जाएं, एक कलाकार दूसरे कलाकार की, एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार की, एक धार्मिक दूसरे धार्मिक की प्रगति को सहन न करे, उसकी प्रशंसा न करे तो क्या कला, साहित्य और धर्म का उत्कर्ष हो सकता है? लोग चाहते हैं कि समाज सुखी हो, सर्वत्र शांति हो। आज सुख-शांति क्यों नहीं है? इस प्रश्न पर विचार करते समय सीधा ध्यान अर्थतंत्र और राजतंत्र की अव्यवस्था पर जाता है। यह सत्य है कि बाह्य-व्यवस्था का असर होता है, पर व्यक्ति के अपने स्वभाव का भी असर होता है, पर उस ओर ध्यान नहीं जाता। यह बाह्य के प्रति जागरूकता और अध्यात्म के साथ आंखमिचौनी है। लोग सोचते हैं कि अध्यात्म से क्या? उससे न रोटी मिलती है, न कपड़ा और न मकान। रोटी, कपड़ा और मकान जिसके लिए है, वह मनुष्य है। उसका निर्माण अध्यात्म से होता है। जिसके लिए वस्तुएं हैं, उसका यदि निर्माण न हो तो रोटी, कपड़े और मकान का क्या होगा? पदार्थ का अपने आप में मूल्य नहीं है, मूल्य है व्यक्ति का। चैतन्य में आनंद-उल्लास नहीं है और बाहर सबकुछ प्राप्त है तो उस एक के अभाव में सब व्यर्थ हो जाते हैं। शेष पर ध्यान न दें, यह मैं नहीं कहता, लेकिन विशेष ध्यान मनुष्य पर दें। मनुष्य के मन को शांत-संतुलित बनाने की प्रक्रिया नहीं होगी तो वह प्राण-शून्य होगा। सारी अच्छाइयों और सारी बुराइयों का उत्स मन है। मन की क्षमता को बढ़ाने के लिए सहिष्णुता का विकास आवश्यक है। मन की शांति का ह्रास सहिष्णुता का ह्रास है। मन की शक्ति का विकास सहिष्णुता का विकास है।

5. कैसे हो सहिष्णुता का विकास?

पांच हजार वर्ष पहले की एक घटना है। वासुदेव श्रीकृष्ण अर्हत अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे, पर उम्र में अरिष्टनेमि से बड़े थे। दोनों दशार्ह परिवार से संबंधित थे। अरिष्टनेमि मुनि बनने जा रहे थे। उस समय वासुदेव श्रीकृष्ण उनसे आशीर्वाद की भाषा में कहते हैं –

णाणेणं दंसणेण च, चरित्तेण तहेव य।
खंतीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य॥

भाई! तुम दीक्षा लेकर मुनि बनने जा रहे हो तो मेरी शुभकामना और मंगलभावना यह है कि तुम बढ़ो, वृद्धि करो। ज्ञान का विकास करो, दर्शन का विकास करो, चारित्र और तप का विकास करो, तुम्हारी क्षांति और सहनशीलता की शक्ति बढ़ती रहे।

मेरी दृष्टि में यह सबसे बड़ा आशीर्वाद है। शक्तियां बहुत-सी हैं, लेकिन अगर मुझसे पूछा जाए कि सबसे बड़ी शक्ति कौन-सी है तो मेरा उत्तर होगा– सहन करने की शक्ति इस दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है। क्यों है? इस पर भी हम चिंतन करें।

सहन करना सीखें

हमारा शरीर औदारिक है। समय-समय पर वह अनेक प्रकार की बीमारियों से आक्रांत होता रहता है। शरीर में यदि रोगों से लड़ने की शक्ति है, रोगों को झेलने की क्षमता है तो वह टिका रहता है, किसी न किसी रूप में कार्यकारी भी रहता है और अपने रजिस्टेंस पावर से वह बीमारी से छुटकारा भी पा लेता है, लेकिन अगर झेलने की ताकत नहीं है तो जीवन का अंत हो जाता है। शरीर निर्जीव हो जाता है।

विद्यालयों में विद्यार्थी अध्ययन करते हैं। अध्ययन के बाद उनकी परीक्षा होती है। उसमें अधिकांश उत्तीर्ण होते हैं तो कुछ अनुत्तीर्ण भी होते हैं। अनुत्तीर्ण

होने वाले विद्यार्थी में अगर सहनशक्ति है तो वह पूरी लगन के साथ फिर पढ़ाई करेगा और परीक्षा उत्तीर्ण कर लेगा। यदि उसमें सहनशक्ति नहीं है, परिस्थितियों को झेलने की क्षमता नहीं है तो वह आत्महत्या की बात सोचेगा या मनोबल इतना गिर जाएगा कि वह आगे की पढ़ाई का विचार ही छोड़ देगा।

सफलता-असफलता दोनों जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। जरूरी नहीं कि जीवन में हर बार सफलता ही मिले। हमें इन दोनों के स्वाद का अभ्यस्त होना चाहिए। हमारा श्रम और पुरुषार्थ सफलता की दिशा में हो, लेकिन भाग्यवश या अपेक्षित पुरुषार्थ के अभाव में अगर असफलता भी मिले तो समभाव से उसे झेलने का साहस भी होना चाहिए। असफलता कई बार आदमी को परिस्थितियों से जूझने की हिम्मत प्रदान करती है। इस दुनिया में ऐसे बहुत लोग हुए हैं, जिन्होंने अपने कार्यों से विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की। उनके संपूर्ण जीवन पर दृष्टिपात कर जो निष्कर्ष निकाला गया, वह यही है कि उन्होंने अपने जीवन में सफलता और असफलता दोनों को सिक्के का एक पहलू माना। अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों की सफलता का राज भी यही है कि सहनशीलता की शक्ति का उन्होंने बहुत विकास किया। बार-बार की असफलता ने उनके साहस और मनोबल को तोड़ा नहीं, बल्कि उन्हें पहले से कहीं ज्यादा संघर्ष की क्षमता प्रदान की।

विश्वप्रसिद्ध महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन अपने जीवन में मेधावी विद्यार्थी नहीं थे। गणित में इतने कमजोर थे कि उनके अध्यापक ने निराशा व्यक्त करते हुए यहां तक कह दिया था कि शायद ही तुम गणित की परीक्षा कभी उत्तीर्ण कर सको, लेकिन अध्यापक द्वारा कहे गए उन शब्दों को उन्होंने अपने लिए चुनौती माना और एक दिन गणित में इतने निष्णात हुए कि भौतिकी और रसायन के सिरमौर वैज्ञानिक बन गए।

दायित्त्वपूर्ण है युवावस्था

पारिवारिक जीवन की सफलता का प्रमुख सूत्र है–सहिष्णुता। 'युवा' परिवार की धुरी होते हैं और समस्याएं भी युवावस्था में ही ज्यादा आती हैं, क्योंकि वह जीवन का मध्यकाल होता है। यह ऐसी अवस्था है, जब आदमी किसी भी कार्य को करने के लिए पूर्ण सक्षम होता है। बच्चों और बूढ़ों को कई तरह की छूटें होती हैं, लेकिन युवाओं को किसी भी तरह की छूट नहीं मिलती। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे अपेक्षित कार्य की संपूर्ति करें। यह ऐसी अवस्था है, जब अनेकानेक चुनौतियां व्यक्ति को झेलनी पड़ती हैं। परिवार के

भरण-पोषण और सुरक्षा का दायित्व तो उन पर रहता ही है, समाज भी उनसे अपेक्षा करता है कि वह किसी न किसी रूप में उसके काम आए। इस तरह एक साथ अनेक मोर्चों पर उसे लड़ना पड़ता है।

सहनशीलता की कमी ने पारिवारिक और घरेलु समस्याएं खड़ी कर दी हैं। तलाक की समस्या इसीलिए सामने आती है कि न पत्नी में सहनशीलता है, न पति में। मामूली-सी बात पर परिवार में विघटन की स्थिति पैदा हो जाती है। समाज में भी आए दिन ऐसी अनेक घटनाएं हमारे सामने आती हैं। लोग हमारे पास आकर अपनी आपबीती सुनाते हैं और समाधान का उपाय पूछते हैं। सबकी पृष्ठभूमि में एक ही कारण मुख्य रूप से सामने आता है। वह है सहिष्णुता की कमी और आवेश की बहुलता।

परिवारों में पति-पत्नी के बीच तलाक की नौबत तो क्षण भर में आ जाती है, लेकिन कोर्ट में वह मामला वर्षों-वर्षों तक चलता है। कितनी बार दोनों को कचहरी के चक्कर काटने पड़ते हैं, अदालत और वकील की फीस चुकानी पड़ती है, लोगों में चर्चा और उपहास का पात्र अलग से बनना पड़ता है। यदि सहनशीलता का विकास हो जाए तो कम से कम इतनी परेशानियों से तो बचा ही जा सकता है। सबसे बड़ा फायदा तो यह होगा कि व्यक्ति मानसिक तनाव से मुक्त हो जाएगा।

कोई यह कैसे कह सकता है कि घर-परिवार में विचारों और भावनाओं का टकराव तनाव का कारण नहीं बनता? यह तनाव का सबसे बड़ा कारण बनता है। जो लोग इस तरह की समस्याओं के भुक्तभोगी होते हैं, वे तनावजनित कष्ट क्या होता है, इसे अच्छी तरह जानते हैं। पति-पत्नी के बीच की अनबन, भाई-भाई के बीच की दरार, पिता को पुत्रों से मिल रहा संत्रास–इन सारी स्थितियों के पीछे सहिष्णुता की कमी ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है।

जहां विचारों और कार्यों में बहुत विरोध हो, वहां परिवारों में और समाज में परस्पर निर्वाह कठिन हो जाता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पारिवारिक और सामुदायिक जीवन में संतुलन नहीं बिठाया जा सकता। सहनशीलता का विकास कर लो, क्षांति की क्षमता विकसित कर लो तो टकराव की कभी नौबत ही नहीं आएगी। परिस्थितियों से बचना कठिन है, किंतु अवांछित स्थिति को टाला और रोका जा सकता है। असहिष्णुता के कारण समाज में कितने ही परिवारों में बिखराव की स्थितियां बन रही हैं और समस्याएं पैदा हो रही हैं।

हम अर्हत् को नमस्कार करते हैं। अर्हत् में अनेक विशेषताएं और अतिशय होते हैं, लेकिन उनकी एक मुख्य विशेषता है–क्षांति। ठाणं में उल्लेख है–अर्हत् क्षांति में शूर होते हैं। हम भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने साधना-काल में अनेक कष्ट सहे। इन्द्र ने प्रकट होकर उनसे निवेदन किया कि आप कहें तो हम ऐसी व्यवस्था कर दें कि आपको कभी कोई कष्ट आए ही नहीं। उस समय भगवान महावीर ने कहा–'ऐसा कभी हुआ नहीं और कभी होगा भी नहीं।' वे अर्हत् थे, इसलिए मारणांतिक कष्टों को भी उन्होंने प्रसन्न मन से झेल लिया और अपने संकल्प पर अडिग रहे।

विकास की पहली शर्त है सहिष्णुता। जिसे जीवन में कुछ बनना है, किसी क्षेत्र में लंबे समय तक कार्य करना है तो उसे पहले अपनी सहनशक्ति का विकास करना होगा। व्यापार और राजनीति के क्षेत्र में तो कदम-कदम पर ऐसे अवसर आते हैं, जब आदमी की सहनशक्ति जवाब देने लगती है, लेकिन जो धैर्य नहीं खोते और अपने लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में गति करते रहते हैं, वे एक दिन अपना मुकाम हासिल कर लेते हैं।

हिंसा का कारण : असहिष्णुता

जीवन में परिस्थितियां आती रहती हैं और वे परिस्थितियां आदमी को पाठ पढ़ाती हैं। व्यक्ति अनुभवों से भी बहुत कुछ सीखता है। जीवन में सहिष्णुता के विकास के कई प्रयोग हैं। शिक्षा के साथ-साथ इनका प्रशिक्षण भी बहुत जरूरी है। खेद की बात है कि आज सहिष्णुता का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। न विद्यालय में, न परिवार में, और तो क्या धर्मस्थानों में भी सहिष्णुता का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। फलतः आज असहिष्णुता बहुत ज्यादा बढ़ती जा रही है। हम असहिष्णुता का जीवंत रूप आज कहीं भी देख सकते हैं। युवापीढ़ी में यह ज्यादा मुखर हो रही है। हिंसा का कारण मुख्य रूप से असहिष्णुता का भाव ही है। कोई किसी को सहन करने के लिए तैयार नहीं है।

वह शरीर स्वस्थ शरीर कहा जा सकता है, जो सर्दी-गर्मी को समान रूप से सह सके। एक आदमी में दोनों तरह की शक्ति होनी चाहिए, जिससे कि वह हर ऋतु के प्रभाव को सह सके, लेकिन आज यह कठिन होता जा रहा है। दक्षिण के एक श्रावक से हमने पूछा कि गांव में साल भर में कितनी बार आना हो जाता है तो वे बोले–'हम तो तीन-चार बार आ जाते हैं, किंतु बच्चे देश आना पसंद नहीं करते। वे कहते हैं कि वहां बहुत गर्मी है, सर्दी है। दक्षिण की जलवायु समशीतोष्ण है, न अधिक सर्दी, न अधिक गर्मी।'

आदमी अपने शरीर को किसी खास स्थिति में रहने का अभ्यस्त बनाए ही क्यों? वह क्यों न ऐसी एंटीबॉडी विकसित करे, जो मौसम की हर मार को झेल सकने में समर्थ हो? ऐसे शरीर से क्या फायदा, जो केवल गुजरात या कर्नाटक या किसी प्रांत विशेष की जलवायु को ही सह सके।

आभिजात्य वर्ग के लोग सुखोपभोग के आदी होते जा रहे हैं। एयरकंडीशन में रहने के अभ्यस्त हो जाने के बाद ज्यादा गर्मी और सर्दी को वे झेल नहीं पाते। वातानुकूलन कभी बहुत उच्च वर्ग के लोगों को ही सुलभ हुआ करता था। अब यह हर परिवार में और हर आम आदमी को सुलभ है। आधुनिक तकनीकी सुविधाओं के कारण शारीरिक श्रम भी बहुत कम होता जा रहा है।

महत्त्व हर ऋतु का

ज्यादा गर्मी और ज्यादा सर्दी न लगना सुखप्रद हो सकता है, लेकिन शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जीवन में हर ऋतु का बहुत महत्त्व है। भारत ही ऐसा देश है, जहां प्रकृति ने ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमंत और बसंत–ये छह ऋतुएं प्रदान की है। दुनिया के किसी और भू-भाग को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। भारतवासी इसका लाभ न उठा सकें तो यह उनकी कमी है, अक्षमता है। प्राकृतिक रूप से रहने के आदी शरीर को बाह्य संसाधनों की जरूरत नहीं होती।

इस संदर्भ में एक घटना का उल्लेख प्राप्त होता है। एक सेठजी अस्वस्थ रहने लगे। बहुत इलाज करवाने के बाद भी स्वास्थ्य में अपेक्षित सुधार नहीं हो रहा था। बड़े शहरों के सुप्रसिद्ध डॉक्टरों के यहां इलाज कराके देख लिया, कोई फायदा नहीं हुआ। अंत में वे एक प्राकृतिक चिकित्सक के पास गए। अपनी समस्या बताई। चिकित्सक ने उनकी दिनचर्या और रहन-सहन के बारे में जानकारी ली। उनका जीवन-स्तर देखकर सहज ही अनुमान लगा लिया कि ये सुखोपभोगी हैं। इनका शरीर अब ज्यादा सुख बर्दाश्त नहीं कर पा रहा है।

उसने बड़ी गंभीरता से एक प्रश्न पूछा–'क्या आप स्वस्थ होना चाहते हैं?' सेठजी ने कहा–'यह भी कोई पूछने की बात है। मैं स्वस्थ होना चाहता हूं, इसीलिए आपके पास आया हूं।' चिकित्सक ने कहा–'मुझे आपकी बात में अभी भी निश्चय की कमी दिखाई दे रही है। इसलिए मैं पुनः पूछ रहा हूं कि क्या सचमुच आप स्वस्थ होना चाहते हैं?'

सेठ ने कहा–'मैं एक कारोबारी आदमी हूं। मेरे पास इतना समय नहीं कि व्यर्थ ही हर किसी के पास जाकर अपनी बीमारी का रोना रोऊं। मैं शारीरिक रूप से जिस परेशानी का अनुभव कर रहा हूं, वह अब मेरे लिए असह्य है,

इसलिए इलाज करवाने में कोई कसर नहीं रखी। एम्स, अपोलो, ब्रीचकैंडी सब जगह से मुझे निराशा ही हाथ लगी है। आपका बड़ा नाम सुनकर ही आपके पास आया हूं। आपके प्रश्न का इस बार भी मेरा जवाब यही है कि हां, मैं स्वस्थ होना चाहता हूं।'

अनुभवी चिकित्सक ने सेठ के अंतर्भावों को, उसकी आंखों में झलक रही निराशा, किंतु उसके पीछे छिपी प्रबल जिजीविषा को पढ़ लिया। वैद्य ने फिर कहा–आपको न तो मैं कोई दवा दूंगा, न इंजेक्शन। मैं आपको सिर्फ एक परामर्श दे रहा हूं कि आप प्रतिदिन कुछ समय के अंतराल से गर्म पानी से स्नान करें, आप स्वस्थ हो जाएंगे।

चिकित्सक ने जिस आत्मविश्वास के साथ सेठ को परामर्श दिया था, उससे सेठ के मन में भी आस्था पैदा हो गई। उन्होंने घर जाकर उसी दिन से दिन में कई बार गर्म पानी से स्नान करना शुरू किया। जल्दी ही स्वास्थ्य में सकारात्मक लक्षण दिखाई देने लगे और जल्दी ही वे स्वस्थ हो गए। उनके चिंतन ने एक करवट ली। उन्होंने सोचा–मैं एयरकंडीशन वाले कमरे में सोता हूं। वातानुकूलित ऑफिस में बैठता हूं और वातानुकूलित कार में सफर करता हूं और फिर गर्म पानी से नहाता हूं। यह कितना बड़ा विरोधाभास है। बीमारी का सामान भी इकट्ठा किया हुआ है और उससे मुक्ति के लिए दवा भी खरीद रहा हूं, यह कितनी मूर्खतापूर्ण बात है। चिंतन कुछ ऐसा बना कि उसी दिन उन्होंने अपने कक्ष से और गाड़ी से एयरकंडीशनर को निकलवा दिया। उसके बाद उन्हें स्टीम बाथ की जरूरत ही नहीं पड़ी। सारी बीमारी पसीने के रास्ते अपने आप बाहर होने लगी।

भगवान महावीर का एक वाक्य है–**सिओसिणच्चाई से निग्गंथे।** निर्ग्रंथ कौन होता है? उत्तर में कहा गया–'जो सर्दी और गर्मी दोनों को सहन करे, वह निर्ग्रंथ होता है।' इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि जो अनुकूल और प्रतिकूल–दोनों परिस्थितियों को सहन कर सकता है, वह निर्ग्रंथ होता है। यह कहते हुए एक प्रश्न मेरे मन में भी आता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में और आज की परिस्थितियों में क्या इस प्रकार का उपदेश देना अप्रासंगिक नहीं है? आज बहुत से लोगों को जिनके पास सुविधा के तमाम साधन उपलब्ध हैं, उनके लिए मनाही करना या उनके प्रयोग से बचने की बात कहना बहुत अटपटा लगेगा और अप्रिय भी लगेगा, लेकिन जिनका चिंतन सकारात्मक है, जिनकी सोच सही है, वे इस सचाई को समझ सकते हैं कि शरीर को जितना ज्यादा सुख और सुविधा मिलेगी, वह उतना ही कमजोर होगा।

इस संदर्भ में मेरा यही मंतव्य है कि व्यक्ति थोड़ा अभ्यास अवश्य करे। सर्दी को और गर्मी को सहने का अभ्यास जितना पुष्ट होगा, उतनी ही शरीर को ऊर्जा मिलेगी, वह मजबूत होगा। परिस्थितियों की आंच में पककर वह पक्का बनेगा। मुनि के लिए अनेक परीषह बतलाए गए हैं। उनमें एक है सर्दी-गर्मी का परीषह। इसका तात्पर्य यही है कि मौसम की मार को झेलने के अभ्यस्त बनोगे तो मुनिचर्या का पालन सम्यक् रूप से कर सकोगे।

जरूरी है सूर्य का प्रकाश

आधुनिक घरों में सूर्य का प्रकाश दुर्लभ हो गया है, जबकि सूर्य का प्रकाश ज्ञान के विकास और शरीर के विकास–दोनों के लिए जरूरी है। जो आतप और शीत को सहन नहीं कर सकता, उसका स्वास्थ्य भी गड़बड़ा जाता है। मेडिकल साइंस कहता है कि विटामिन डी त्वचा के लिए बहुत जरूरी है। यह सूर्य की रश्मियों से प्राप्त होता है। यह खेत में काम करने वाले ग्रामीणों को जितना मिलता है, उतना बड़े शहरों की गलियों में रहने वालों को नहीं मिल पाता। शहर में जहां गगनचुंबी सघन इमारतें हैं, वहां तो लोगों को कई-कई दिनों तक सूर्य के दर्शन भी नहीं हो पाते।

ज्ञातव्य है कि सूर्य का प्रकाश जितना स्वास्थ्य के लिए जरूरी है, उतना ही अंतर्ज्ञान के विकास के लिए भी जरूरी है। भगवान महावीर के बारे में कहा जाता है कि वे तपते सूर्य की आतापना लेते थे। आज तो आतापना लेने की विधि कुछ दूसरी हो गई, लेकिन प्राचीन विधि यही थी कि प्रखर सूर्य के ताप में खुले आसमान के नीचे खड़े होकर ऊर्ध्व बाहु (दोनों हाथ ऊपर उठाकर) एक मुहूर्त अडोल खड़े रहना। इस विधि से भीतर का ज्ञान प्रकट होता है। यह तैजस शक्ति आदमी को निडर, पराक्रमी और दृढ़ निश्चयी बनाती है। मैंने कई लोगों को देखा, जो प्रतिदिन सूर्य का आतप लेते थे। उनका अंतर्ज्ञान बहुत विकसित था।

अमेरिका में एक ऐसे व्यक्ति का वैज्ञानिक परीक्षण किया गया, जो ज्ञान के नाम पर कुछ भी नहीं लेता था। वर्षों से वह बिना कुछ खाए जीवित था और पूर्ण सक्रिय भी था। उससे पूछा गया कि तुम भोजन के स्थान पर किस चीज का उपयोग करते हो तो उसने कहा–'सूर्य के प्रकाश का। उसे ग्रहण कर मैं अपनी क्षुधा को तृप्त कर लेता हूं। प्रारंभ में थोड़ी कठिनाई हुई। बाद में धीरे-धीरे मैं इसका अभ्यस्त हो गया और अब तो ऐसा महसूस होता है कि आधा घंटा धूप लेकर मैं पूरी तरह से तृप्त हो जाता हूं।'

हमारे यहां सूर्य का विज्ञान एक बड़ा विज्ञान रहा है। सूर्य की रश्मियों में ऐसे बहुत से तत्त्व होते हैं, जो जीवन की आवश्यकताओं की संपूर्ति कर देते हैं। निरंतर सर्दी में रहने वाले की तैजस शक्ति कम हो जाती है, वह शनैः शनैः आलसी होता जाता है। एक स्थान पर निढाल-सा पड़ा रहता है। सारी शक्ति जैसे चुक जाती है।

आचार्य तुलसी ने सरदारशहर में चतुर्मास किया था। उस समय मैं और मुनि ताराचन्दजी, जो मेरे साथ काफी वर्षों तक रहे हैं, दूगड़ विद्यालय के सामने वाले दो भवनों की छत पर चले जाते और घंटों तक अचेल अवस्था में सूर्य का आतप लेते। मैं कह सकता हूं कि इससे आंतरिक विकास में बहुत सहयोग मिला। बिजली हो या अग्नि सब तैजस ही हैं। यहां तक कि हमारी पाचन शक्ति भी तैजस ही है। इसलिए ज्ञान के विकास के लिए भी तैजस ही उत्तरदायी है। सूर्य का प्रकाश इसके लिए वरदान है, लेकिन आज इस आपाधापी के युग में इतनी मामूली बातों की परवाह कौन करता है? जो चीज हर जगह हर समय सुलभ है, उसकी ओर ध्यान बहुत कम जाता है। सूर्य का प्रकाश अगर महंगे दामों पर मिलता तो संभव है, उसे लेने के लिए लाइन लगती, लेकिन वह तो अमीर-गरीब हर किसी के लिए हर समय सुलभ है तो उस पर ध्यान कौन दे? इलाज के लिए बड़े लोग सारी दुनिया छान लेंगे, लेकिन कुछ घंटे धूप में बैठना या खड़े होना उनके लिए संभव नहीं है। आदमी ने स्वयं को सुविधाओं का दास बना लिया है।

साधना का आधार

सहिष्णुता साधना का मुख्य आधार है। हमारे संघ में तो सहिष्णुता के ऐसे-ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि आज के युग में उन्हें दुर्लभ कहा जा सकता है। भारमलजी स्वामी का जीवन सहिष्णुता का उत्कृष्ट उदाहरण था। स्वामीजी के पास यह बात आई कि भारमलजी ईर्या समिति का ठीक से पालन नहीं करते। यह बात जैनों के किसी अन्य संप्रदाय की ओर से आई थी। स्वामीजी ने इस पर ध्यान दिया और भारमलजी को बुलाकर कहा–'आज के बाद अगर ईर्या समिति के पालन में तुम्हारी कोई शिकायत आई तो तुम्हें एक तेला करना होगा।'

भारमलजी ने बिना किसी ननुनच के स्वामीजी के द्वारा सुनाए गए प्रायश्चित्त को स्वीकार कर लिया। कोई असहिष्णु संत होता तो कहता–यह कहां का न्याय है? लेकिन भारमलजी तो भारमलजी थे। उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया, फिर बड़ी विनम्रता के साथ एक निवेदन किया–'गुरुदेव! आपकी

आज्ञा शिरोधार्य है, लेकिन हमारे शुभेच्छुकों की संख्या कम नहीं है। किसी ने बिना गलती किए ही आपसे शिकायत कर दी तो उसका क्या दंड होगा?'

स्वामीजी को भारमलजी की बात में दम लगा। उन्होंने कहा–'सचमुच में भूल हुई हो तो प्रायश्चित्त स्वरूप तेला करना है और निराधार आरोप लगे तो यह मानकर तेला करना है कि मेरे कर्मों का उदय हुआ है। तेला करके में उसका शमन कर रहा हूं।' भारमलजी ने स्वामीजी की यह बात भी प्रसन्न मन से स्वीकार कर ली। भारमलजी उस समय अवस्था से युवा थे। कोई युवा सहज ही इस तरह की बात स्वीकार नहीं कर सकता, लेकिन यह उनकी साधना का बल और तेज था, जिसने उन्हें इतना सहिष्णु बना दिया था।

प्रारंभ से ही सहनशीलता का अभ्यास रहे तो बुढ़ापा आने पर, प्रतिकूल स्थिति में चिड़चिड़ाहट नहीं होगी। बुढ़ापा बहुत शांति से कटेगा। कोई बात मन के प्रतिकूल होने पर भी प्रतिक्रिया नहीं होगी, तनाव नहीं होगा और परिवार का वातावरण भी शांतिपूर्ण रहेगा। भारमलजी स्वामी को तो मैंने नहीं देखा, किंतु मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी को देखा और पाया कि सहिष्णुता की दृष्टि से वे बहुत सधे हुए थे। आज तक उनकी कोटि का कोई संत मुझे नहीं मिला।

अर्हत् अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया आशीर्वाद बहुत महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षांति और निर्लोभता बढ़े। जो भी जीवन में आगे बढ़ना चाहते हैं उन सबमें इन छह गुणों का विकास हो। ये छहों गुण जीवन में उतर गए तो महानता जीवन में अपने आप उतरेगी।

6. मुक्ति

एक संस्कृत-कवि की सम्मति है कि इस दुनिया में बंधन बहुत हैं, पर प्रेम-रज्जु जैसा गाढ़ बंधन कोई नहीं है। भौंरा काठ को भेदकर निकल जाता है, किंतु कोमलतम कमल-कोष को भेदकर नहीं निकल पाता।

सूर्यविकासी कमल था। मध्याह्न में वह खिल उठा। एक भौंरा आया और उसके पराग में लुब्ध हो गया। वह बार-बार उस पर मंडराता रहा। अंत में उसके मध्य में जाकर बैठ गया। संध्या हो गई, फिर भी वह नहीं उड़ा। कमल-कोष सिकुड़ गया और भौंरा उसमें बंदी बन गया। प्रेम से कौन बंदी नहीं बना?

दूसरों के प्रति प्रेम होता है, वह बांधता है और अपने प्रति प्रेम होता है, वह मुक्त करता है। बंधन का अर्थ है दूसरों की ओर प्रवाहित होने वाला प्रेम और मुक्ति का अर्थ है अपने अस्तित्व की ओर प्रवाहित होने वाला प्रेम। यह स्वार्थ की संकुचित सीमा नहीं है। यह व्यक्तित्व की सहज मर्यादा है। जिसे अपने अस्तित्व का अनुराग है, वह दूसरों को बंधन में नहीं डाल सकता। दूसरों को वे ही लोग बांधते हैं, जो अपने अस्तित्व के प्रति उदासीन होते हैं। मनुष्य अपने मनोरंजन के लिए तोते को पिंजड़े में डालता है। चिड़ियाघर की सृष्टि क्यों हुई? मनुष्य अपने में अनुरक्त नहीं है, इसलिए वह दूसरों को बंधन में डाल अपना मनोरंजन करता है।

एक आदमी की अपने पड़ोसी से अनबन हो गई। उसके मन में क्रोध की गांठ घुल गई। वह जब कभी पड़ोसी को देखता, उसकी आंखें लाल हो उठतीं। यह द्वेष का बंधन है।

एक बुढ़िया शरीर से कृश होने लगी। पुत्र ने पूछा–'मां! क्या तुम्हें कोई व्याधि है?'

'नहीं, बेटा! कोई व्याधि नहीं है।'

'फिर यह कृशता क्यों आ रही है?'

'बेटा! अपने पड़ोसी के घर में बिलोना होता है, उससे मुझे बहुत पीड़ा होती है। मथनी की डंडियां उस बिलोने में नहीं, मेरी छाती में चलती हैं। इसलिए मेरा शरीर कृश हो रहा है।' यह ईर्ष्या का बंधन है।

राजा ने कहा–'बकरी को खूब खिलाओ पर शरीर में बढ़नी नहीं चाहिए।' गांव वाले समस्या में उलझ गए। रोहक ने मार्ग ढूंढ़ लिया। बकरी को शेर के पिंजड़े के पास ले जाकर बांध दिया। उसे चारा खूब देते, पर बकरी का शरीर पुष्ट नहीं हुआ। जैसे ही शेर दहाड़ता, उसका खाया-पिया सब हराम हो जाता। यह भय का बंधन है।

एक आदमी किसी सेठ के पास गया। घर में विवाह था। सेठ से कुछ सामग्री लेनी थी। सेठ से मांग की तो वह बोला–'ठहरो, अभी यहां कोई आदमी नहीं है।' आधा घंटा बाद फिर मांग की तो सेठ ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी बार मांग की और वही उत्तर मिला, तब आगंतुक ने कहा–'मैं तो आपको आदमी समझ कर ही आपसे मांगने आया था।' यह मानदण्ड का बंधन है।

बाहरी बंधनों की क्या बात कहूं? अपने भीतर इतने बंधन हैं कि उनसे निपटें बिना बाहरी बंधनों से निपटना, नहीं निपटने के समान हो जाता है।

मुझे मुक्ति प्रिय है, आपको भी प्रिय है, हर व्यक्ति को प्रिय है, किंतु दूसरों को बांधने की मनोवृत्ति को त्यागे बिना क्या हम मुक्त रह सकते हैं? अपने से छोटे को मैं बांधता हूं, इसका अर्थ है, मैं अपने बड़ों से बंधन का रास्ता साफ करता हूं। आप बंधना न चाहें, इसका अर्थ होना चाहिए कि आप दूसरों को बांधना न चाहें। बंधन बंधन को जन्म देता है और मुक्ति मुक्ति को। बाहरी बंधनों से मुक्ति पाने की अनिवार्य शर्त है मानसिक मुक्ति, आंतरिक मुक्ति।

7. मुक्ति : अलोभ चेतना का जागरण

आत्मा को पढ़ने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है मुक्ति। यदि व्यक्ति मुक्त है तो आत्मा की पढ़ाई कर सकता है। जैन आगमों में दो शब्द आते हैं–बंधन और मुक्ति। एक है आत्मा को बांधने वाला और एक है मुक्त करने वाला। बांधने वाले तत्त्व का नाम है अभिष्वंग, आसक्ति या लोभ। अलोभ और अनासक्ति मुक्त करने वाला तत्त्व है। प्रश्न है कि हम आत्मा को जानें, देखें, अपने भीतर प्रवेश करें, पर वहां कैसा लगेगा? वहां का स्थान सुंदर है या नहीं? पवित्र और साफ सुथरा है या नहीं? उत्तर होगा कि वहां प्रवेश करोगे तो गंदगी का अनुभव होगा, वहां गंदगी है, मलिनता है, अशुचि है, अपवित्रता है। वह स्थान अशुचि कैसे बना? वह स्थान अशुचि बना लोभ के कारण।

शुचि और अशुचि

स्मृतिकारों ने एक सुंदर परिभाषा दी अशुचि और शुचि की। जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र होता है, वह शुचि है और जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र नहीं है, वह अशुचि है। आज शायद यह मान्य नहीं है, लेकिन बहुत चिंतन के बाद स्मृतिकारों ने परिभाषा दी थी। यह परिभाषा अलोभ के साथ जुड़ी हुई है। अलोभ का लक्षण है शुचिता यानी पवित्रता। यही मुक्ति का लक्षण है। आत्मा का परिपार्श्व गंदा कैसे बनता है? वहां गंदगी कहां से आती है? अशुचिता कहां से आती है? इसे समझाने का प्रयत्न किया गया है। जहां लोभ होता है, वहां गंदगी के तत्त्व पैदा होते हैं। लोभ का सजन्मा है क्रोध। जहां लोभ अधिक है वहां क्रोध भी ज्यादा होगा।

क्रोध, अहंकार, माया, हिंसा, झूठ, चोरी भी वहां पैदा हो जाएगी और ये उस स्थान को गंदा बना देंगे। जहां क्रोध है वहां पवित्रता नहीं रह सकती, जहां अहंकार है वहां पवित्रता नहीं रह सकती, वहां मलिनता आ जाती है। आदमी सोच नहीं पाता कि अहंकार में क्या कहना चाहिए, क्या नहीं कहना चाहिए।

प्रदर्शन अहं का

सेठ ने पंडितजी को पूजा करने बुलाया। पूजा पाठ होने के बाद सेठ ने कहा–यह सोने की चौकी दक्षिणा में देता हूं। लोगों ने सेठ की प्रशंसा की। कुछ ही देर में सेठ ने कहा–पंडितजी! ऐसा दानी आज तक कोई आपको मिला? यह अहंकार का प्रदर्शन है। जहां लोभ है, वहां अहंकार भी आ जाएगा।

लोभ : बुराइयों की जड़

जहां लोभ है, वहां क्रोध तो आता ही है। एक वस्तु हो तो छीना झपटी भी हो जाती है। एक लेना चाहता है तो दूसरा गुस्से में आ जाता है। क्रोध भी लोभ का सजन्मा है, अहंकार भी सजन्मा है, माया भी सजन्मा ही है। बहुत बार माया भी लोभ के कारण होती है। कैसे छुपाएं? आज तो छुपाने के बहुत तरीके विकसित हो गए हैं। दो नंबर के खाते की बात तो बहुत छोटी पड़ गई है। धन के लोभ के कारण नशे का व्यवसाय करने वाले पेट में भी नशे की वस्तु छुपा देते हैं और मुंह में भी छुपा देते हैं। कभी-कभी पकड़े भी जाते हैं। यह सारा काम क्यों होता है? छुपाने के लिए। माया का जाल लोभ के कारण बिछाया जाता है।

हिंसा लोभ के कारण भी होती है। आदमी दूसरे पर आक्रमण करता है, दूसरे के सत्त्व को हड़पना चाहता है। दूसरे की भूमि और सत्ता पर अधिकार करना चाहता है। बड़े-बड़े युद्ध और लड़ाइयां लोभ के कारण होती हैं। भूमि, अर्थ और वस्तुओं पर अधिकार की भावना लोभ के कारण पैदा होती है। व्यक्ति लोभ के कारण बड़ा झूठ भी बोल लेता है, दूसरे के प्रति मिथ्या आरोप भी लगा देता है। 'दसवेआलियं' में असत्य बोलने के चार कारण बतलाए गए हैं–**कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा।** आदमी क्रोध के कारण, लोभ के कारण, भय के कारण और हंसी मजाक में भी झूठ बोलता है। इन चारों में सबसे बड़ा कारण है लोभ। लोभवश हर बात को झुठला दिया जाता है।

व्यवसाय के क्षेत्र में कार्य करने वाले सब लोग जानते हैं कि लोभ के साथ माया और झूठ किस प्रकार चलता है। संगीत का आयोजन किया गया, अच्छा कार्यक्रम चला। आयोजन पूरा हुआ। जिस सेठ ने आयोजन किया था, उसे गायक मंडली को दान देना था। सब प्रतीक्षा में थे। सेठ बैठ गया। अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरा। एक बाल हाथ में आया तो वह बोला–भैया! क्या करूं? तुम्हारा भाग्य ही ऐसा है। मेरा एक नियम है कि मैं दाढ़ी पर हाथ फेरता हूं, उस समय जितने बाल आते हैं, उतने रुपये दान में दे देता हूं। एक बाल आया है, इसलिए लो तुम्हारा एक रुपया। संगीत मंडली का मुखिया बोला–सेठ साहब!

ऐसा मत करो। यह अधिकार तो हमारा होना चाहिए। आपको तो दान देना है, लेने वाले तो हम हैं। दाढ़ी पर हम हाथ फेरेंगे। जितने बाल आएं, उतने रुपए आप दे देना, लेकिन सेठ ने इस शर्त को मान्य नहीं किया। जहां लोभ होता है, वहां पवित्रता नहीं रहती। चिंतन का कोण बदल जाता है।

लोभ : अपवित्रता का जनक

हमारे चरित्र में अपवित्रता क्यों आती है? लोभ के कारण आती है। लोभ आत्मा को अपवित्र बनाता है। आत्मा के परिपार्श्व को भी अपवित्र बना देता है। हिंसा भी होती है, झूठ भी बोला जाता है और चोरी की तो प्रसिद्ध बात है, चरित्र और चिंतन में भी अपवित्रता आ जाती है। एक चोर को न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत किया गया। न्यायाधीश ने उसको देखते ही पहचान लिया और बोला कि बात क्या है? तू बार-बार यहां आता है। बार-बार मेरे सामने आता है। हुजूर! मैं आना तो नहीं चाहता, पर पुलिस वाले ले आते हैं तो मैं क्या करूं? जज बोला–देख, जब मैं वकील था, तब तूने मुर्गी की चोरी की थी। मैं जब सरकारी वकील बना, तब तूने बकरी की चोरी की थी। अब मैं जज बन गया तो तुमने भैंस की चोरी की है। चोर बोला–महाशय! यह तो भगवान की कृपा है कि आपकी भी उन्नति हुई है और मेरी भी उन्नति हुई है। लोभ में सारा चिंतन विकृत बन जाता है।

संतोष है परम सुख

बहुत बार आदमी सचाई को झुठलाता चला जाता है। व्यक्ति के दिमाग में भी गंदगी पैदा हो जाती है और वह बातें भी कैसी ही करने लग जाता है। इसका कारण है लोभ। चाहे बंधन कह दें, चाहे अपवित्रता कह दें, लोभ सारे वातावरण को गंदा बना देता है। इसलिए लोभ को अशुचि और संतोष को शुचि कहा जाता है। अगर पवित्रता और अपवित्रता को समझना हो तो हमें लोभ और अलोभ को समझना होगा। आत्मा का अध्ययन करना है तो हमें अलोभ और संतोष को समझना होगा।

संस्कृत के नीतिकारों ने कहा–**संतोष परम सुख है**, लेकिन आज की अर्थशास्त्रीय अवधारणाएं लोभ को बढ़ावा दे रही हैं। अलोभ और संतोष को अमान्य कर रही हैं और पवित्रता को भी अस्वीकार कर रही हैं। एक मात्र अर्थ का विकास करो, इच्छा को बढ़ाओ, धन को बढ़ाओ, उत्पादन को बढ़ाओ, पदार्थ को बढ़ाओ और खूब भोग करो। ऐसी स्थिति में चरित्र कहां से होगा? जब धारणा यह है कि खूब इच्छा को बढ़ाओ, खूब पैदा करो, खूब भोगो, फिर

चरित्र के विकास एवं पवित्रता का तो कहीं अवकाश ही नहीं रहा। कहां से आचार आएगा, कहां से पवित्रता आएगी, कहां से चरित्र आएगा? कोई रास्ता ही खुला नहीं है। सारे दरवाजे बंद कर दिए।

समझें निर्लोभ को

यदि हम शुचिता, पवित्रता, शुद्ध चरित्र चाहते हैं या नैतिक मूल्यों का विकास चाहते हैं तो प्रारंभ से ही धारणा को बदलना होगा। अलोभ का, शुचिता का दर्शन समझना होगा। एक भाई दूसरे भाई को मार देता है। एक मित्र दूसरे मित्र को मार देता है। लोभ से बढ़कर अपवित्रता दुनिया में कहीं नहीं है। जितने अशुचि पदार्थ हैं, उनसे हम घृणा करते हैं, दूर रहना चाहते हैं। क्या लोभ से ज्यादा कोई गंदगी है इस दुनिया में? कोई गंदगी नहीं है, लेकिन उससे हम घृणा नहीं करते। उसकी तो गंदगी बढ़ाते जा रहे हैं और बाहर की गंदगी से घृणा करते हैं। यह आत्म-विकास की बाधा है। हम आत्मा की पढ़ाई करें। आत्मा को पढ़ने के लिए हमें संतोष को समझना होगा।

संतुष्ट कौन?

दुनिया में धनी आदमी संतुष्ट है, यह नहीं कहा जा सकता। संतुष्ट वह है, जिसने इस सचाई को समझ लिया कि आदमी अमर नहीं है। कोई भी पद या सत्ता अमर नहीं है। कोई भी शासन अमर नहीं है। सबको एक दिन अवश्य मरना है। यह सचाई जिसकी समझ में आ जाती है, वह संतोष का मूल्यांकन कर सकता है। जब आंखों पर मोह का पर्दा आ जाता है, व्यक्ति यह नहीं सोचता कि एक दिन मुझे भी मरना है। मन में एक भ्रांति पलने लगती है कि दूसरे मरेंगे, मैं तो अमर हूं। उस व्यक्ति के मन में यह विकृति पैदा हो जाती है। लोभ के विकार से कोई भी नहीं बचता।

हर आदमी के मन में लोभ है, किसी न किसी प्रकार की गंदगी है। जब तक यह अशुचिता है, हम आत्मा को पढ़ नहीं सकते। आत्मा को पढ़ना है तो शुचिता का वातावरण पैदा करना होगा। पवित्र वातावरण पैदा करना होगा। वह शुचिता है संकल्प का विकास, वह शुचिता है अपने आप में लीन रहने की मनोवृत्ति। वह होगी तभी हम आत्मा को पढ़ सकते हैं। जो आध्यात्मिक दृष्टिवाले लोग हैं, जो आध्यात्मिक रूचिवाले हैं और अध्यात्म का विकास करना चाहते हैं उन्हें संतोष को गहराई से समझना है, मुक्ति को गहराई से समझना है। लोभ और लोभ के द्वारा होने वाली विकृति को समझना है। इन सब तथ्यों को समझ करके ही हम आत्मा को पढ़ने की स्थिति में जा सकेंगे।

8. लोभ को संतोष से जीतो

दशवैकालिक की एक बहुत सुंदर गाथा है –

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे॥

क्रोध को उपशम से जीतो, अहंकार को मृदुता से जीतो और माया को सरलता से जीतो और लोभ को संतोष से जीतो। एक तरफ लोभ को संतोष से जीतने की बात है तो दूसरी तरफ संतोष को विकास की बाधा माना जा रहा है। लोग संतोष की बात को भूल रहे हैं। सब जगह असंतोष की बात सामने आ रही है।

यथार्थवाद : अयथार्थवाद

जब मैंने संतोष के परम सुख होने की बात को पढ़ा तो मन में प्रश्न हुआ कि क्या यह सचाई है या अतिशयोक्ति है? संतोष परम सुख है, इसको सत्य मानें या असंतोष को। असंतोष सब जगह फैला हुआ है। एक होता है यथार्थवाद और एक होता है अयथार्थवाद। जो जितना है उसको उतना बताना यथार्थवाद है और बढ़ा-चढ़ाकर बताना अयथार्थवाद है। जहां एक बूंद पानी नहीं है वहां लबालब तालाब बता देना और जहां समुद्र है उसको सूखा बता देना अर्थवाद है, अयथार्थवाद है। संतोष परम सुख है। यह एक सचाई है, यथार्थवाद है।

असंतोष का अंत नहीं

संतोष परम सुख है। इसके हेतु पर विचार करना जरूरी है। जब तक कोई हेतु सामने नहीं आता, तब तक पूरी बात समझ में नहीं आती। छोटे बच्चे भी तर्क करते हैं। बिना तर्क के बात गले नहीं उतरती। किसी बच्चे को कहा जाए कि प्रतिदिन नवकार गिनो। वह प्रश्न करेगा–क्यों? कारण बताना होगा। सामायिक करो। क्यों करूं? कारण के बिना बात समझ में नहीं आती। हमें

कारण की खोज करनी होगी कि संतोष परम सुख क्यों है? असंतोष का कोई अंत नहीं है। एक व्यक्ति के मन में आया कि मेरे पास हजार रुपये हो जाएं तो अच्छा होगा। फिर सोचा–हजार वाले बहुत हैं, लाख हो जाएं तो अच्छा होगा। लाख भी हो गए। लखपति बहुत हैं। आज उनकी कोई गिनती नहीं है। करोड़ हो जाएं तो अच्छा होगा। करोड़पति भी आज साधारण हो गए। अब उनका भी मूल्य घट गया। एक समय था जब हजार रुपये का भी मूल्य था और आज करोड़ का भी मूल्य घट गया। करोड़पति बहुत हैं। अच्छा हो अगर मैं अरबपति बन जाऊं। संयोगवश वह व्यक्ति अरबपति बन गया। आजकल शहरों में अरबपति बहुत हैं। फिर सोचा–खरबपति हो जाऊं तब कोई गणना होगी और वह भी हो गया। खरबपति भी बहुत हैं। एक खरब डॉलर हो जाए, तब कोई बात हो। इस प्रकार असंतोष का कोई अंत नहीं है, उसकी कोई सीमा नहीं। अतः असंतोष सुख नहीं है।

संतुलन बनाएं

आचार्यश्री तुलसी कहते थे कि उनके परिवार के मुखिया थे राजरूपजी और मोहनलालजी। उनको एक वर्ष में हजार रुपए मिलते थे। वे बड़े मुनीम कहलाते थे। उस समय एक वर्ष में हजार रुपए मिलना बहुत बड़ी बात मानी जाती थी। आज चपरासी को भी एक वर्ष में हजार रुपए मिले तो उसके लिए पूरा नहीं होता। उसको भी उससे ज्यादा चाहिए। जो चौथी श्रेणी का आदमी है उसको भी चार-पांच हजार रुपए मासिक चाहिए। उसके बिना काम नहीं चलता। द्वितीय श्रेणी और प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों को महीने का एक लाख, दो लाख, दस लाख और सवा करोड़ रुपए या उससे भी ज्यादा मिलते हैं। फिर भी सब जगह वेतन बढ़ाने की मांग उठती रहती है।

हमारे सामने प्रश्न आया कि वेतन के विषय में आपका क्या विचार है? हमने कहा–वेतन आयोग की सिफारिश करनेवाले लोग सचिवालय के विशाल कक्ष में बैठकर निर्णय करते हैं। उन्होंने कभी किसी गांव की जनता के बीच में निर्णय नहीं लिया। एक संतुलन होना चाहिए। आज हिन्दुस्तान के चालीस करोड़ लोग ऐसे हैं, जो गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन जी रहे हैं। जिनको रोज खाने को दो वक्त की रोटी नहीं मिलती। दूसरी तरफ एक आदमी को महीने के साठ-सत्तर हजार, लाख तथा करोड़ मिल रहे हैं। अब चिंतन करें कि असंतोष का अंत कहां होता है?

असंतोषस्य नास्त्यन्तः असंतोष का अंत नहीं होता।

असंतोष : झगड़े की जड़

घर के बंटवारे के प्रसंग में भी व्यक्ति जब यह कहता है कि मुझे पांती में यह लेना है, यह मेरा है तब झगड़ा लंबा होता चला जाता है। व्यक्ति न्यायालय में केस भी कर देता है। कभी-कभी केस इतना लंबा चलता है कि वह व्यक्ति स्वयं चला जाए, पीढ़ियां बीत जाएं, अंत ही नहीं आता। एक बार जब सुप्रीम कोर्ट की हीरक जयंती मनाई जा रही थी तब एक व्यंग्यकार ने लिखा कि सुप्रीम कोर्ट की हीरक जयंती मनाई जा रही है तो मेरे केस की पता नहीं कौन-सी जयंती होगी? जब सुप्रीम कोर्ट नहीं बना, उससे भी पहले से केस लड़ रहा हूं, अभी तक फैसला नहीं हुआ। मैं उसकी कौन-सी जयंती मनाऊं? असंतोष का कहीं ओर-छोर दिखाई नहीं देता।

जब व्यक्ति यह कहता है–मुझे संतोष है, मैं आपसे कुछ नहीं लेना चाहता, वहां झगड़ा नहीं होता। जब व्यक्ति यह कहता है कि यह सब आप रखें, फिर केस क्या होगा? क्यों वह न्यायालय में जाएगा? क्यों वकील बनाएगा? किसी का प्रश्न नहीं उठता। इस बात को तर्क के साथ समझें कि असंतोष झगड़े की जड़ है। इसका कहीं अंत नहीं होता, बढ़ता ही चला जाता है। आखिर संतोष में ही अंत आता है। पहला महायुद्ध हुआ, दूसरा महायुद्ध हुआ। अंत किसमें आया? क्या लड़ाई में अंत आया? नहीं, आखिर लड़ाई करते करते थक गए, समझौता, संधी करने पर लड़ाई का अंत हुआ। संतोष किया तब युद्ध शांत हुआ। अतः ठीक कहा गया–**संतोषः परमं सुखम्।** अगर आपको परमसुख की खोज है तो संतोष ही परम सुख है। संतोष करने से सुख की अनुभूति होगी।

संतोष विवेक में

अगर सुख और दुःख के चक्र में जीना चाहते हैं तो भले असंतोष की बात करते रहें। यदि परम सुख को खोजना चाहते हैं तो सबसे पहले यही खोज करनी होगी कि संतोष कहां है? इस विषय पर ध्यान देना होगा। संतोष बहुत मुश्किल है। पेड़ नीचे उगते हैं और ऊपर आकाश की ओर जाना चाहते हैं। सितारे आकाश में हैं, उल्कापात होता है तो पृथ्वी पर आकर गिरते हैं। जो नीचे हैं, वे ऊपर जाना चाहते हैं। जो ऊपर हैं, वे नीचे आना चाहते हैं। संतोष ऊपर भी नहीं है और नीचे भी नहीं है। संतोष हमारे भीतर है, संतोष विवेक में है।

चेतन से प्रीति करो

'संतोष' शब्द तुष धातु से बना है। 'तुष' प्रीतौ धातु है। संतोष का अर्थ है प्रीति। प्रीति किससे करें? प्रीति करें अपने आपसे। पदार्थ की प्रीति से असंतोष

तथा झगड़ा शुरू होता है और वह समाप्त भी नहीं होता। जब तक व्यक्ति बाहर रहेगा, तब तक वह असंतोषी रहेगा। पदार्थ की आकांक्षा का कहीं अंत नहीं है। अगर मैं कहूं कि मेरे सामने एक सूची प्रस्तुत करो। उसके दो कोष्ठक होंगे। पहला कोष्ठक होगा–मुझे चाहिए और दूसरा कोष्ठक होगा–मुझे नहीं चाहिए। कौन-सा कोष्ठक भरेगा? 'चाहिए वाला' कोष्ठक इतना लंबा हो जाएगा कि पढ़ना भी मुश्किल हो जाएगा और 'नहीं चाहिए' वाले में पता नहीं एक पंक्ति भी आएगी या नहीं। 'चाहिए' यह अतृप्ति है। यह असंतोष पैदा करती है। आदमी तृप्त नहीं है भीतर से। उसकी अपने आपसे प्रीति नहीं है, उसकी प्रीति है पदार्थ के साथ। अगर अपने आपसे प्रीति होती तो भाई-भाई कभी नहीं लड़ते। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि सगे भाई, जिनका नाम है 'सहोदर' अर्थात् जो एक उदर में रहे हैं, वे भी आपस में लड़ रहे हैं। कारण क्या है? पदार्थ के साथ प्रीति है। मकान की थोड़ी भूमि कम मिल गई, बंटवारे में थोड़ा धन कम मिल गया, थोड़ा हिस्सा कम मिल गया, लड़ाई शुरू हो जाती है। एक ओर भाई और एक ओर पदार्थ। लड़ाई क्यों हुई? क्योंकि प्रीति भाई से नहीं, पदार्थ से थी। जब भीतर से प्रीति नहीं है तो लड़ाई होना स्वाभाविक है। प्रीति अपने आपसे हो, भीतर में स्थित चेतना से हो, तब झगड़ा समाप्त हो जाएगा। व्यक्ति को यह सतत चिंतन करना चाहिए कि ऐसा दिन कब आएगा, जिस दिन मेरी आकांक्षा, मेरा लोभ समाप्त हो जाएगा।

कायोत्सर्ग करें

यदि व्यक्ति के मन में यह निश्चय हो जाए कि लोभ को संतोष से जीतना है और वही परम सुख है तो फिर पदार्थ की मांग नहीं रहेगी। संतोष का मूल्यांकन करें, हर आदमी को संतोष की अनुभूति करनी चाहिए। संतोष की प्राप्ति के लिए कायोत्सर्ग का प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। कायोत्सर्ग यानी भेद विज्ञान। कायोत्सर्ग का मतलब ही है पदार्थ का उपयोग करो, पर उसे अपना मत मानो। मैं अलग हूं, पदार्थ अलग है। जब तक पदार्थ को अपना मानते रहोगे–मेरा घर, मेरा सोना, मेरी चांदी, तब तक असंतोष बढ़ेगा और दुःख बढ़ता रहेगा। अगर शांति और सुख का मार्ग खोजना चाहते हैं तो सूत्र बना लें कि धन की उपयोगिता है, पर वह अपना नहीं है। अपना तो अपनी आत्मा का स्वरूप है। 'एगो मे सासओ अप्पा' मेरी आत्मा शाश्वत है, शेष सारे बाहर के भाव हैं। अगर यह सम्यक् दृष्टिकोण बन जाए तब दुनिया में आपको कोई भी दुःखी नहीं बना सकता। यह महामंत्र परम शांति देनेवाला है।

9. सफलता का रहस्य : अनासक्ति

सम्राट श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार ने भगवान महावीर से पूछा–'भगवन्! सुख की चाह मनुष्य का स्वभाव है। वह सुख चाहता है, फिर सुख को छोड़कर वह कष्ट का मार्ग क्यों स्वीकार करे? बहुत महत्त्वपूर्ण है मेघकुमार का प्रश्न और इसका उत्तर भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। महावीर ने कहा –

सुखासक्तो मनुष्यो हि कर्त्तव्ये विमुखो भवेत्

जो मनुष्य सुख में आसक्त होता है, वह अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है।

भोगमय वातावरण

सुख से अगली अवस्था है विलास। आज चारों ओर भोग का वातावरण है। त्याग की और संयम की शिक्षा कौन दे? आदमी जब भोग-विलास में चला जाता है तो फिर धर्म के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं रहता। उसकी अध्यात्म में कोई रूचि नहीं रह जाती। यह कोई आज की समस्या नहीं, चिरकाल की समस्या रही है। आदमी इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहता है और जो व्यक्ति इन्द्रिय-सुखों में आसक्त होता है, वह जो काम नहीं करना चाहिए, उसे जरूर करता है। भोग की चेतना प्रबल होती है तो संयम की चेतना तिरोहित हो जाती है। कर्तव्य का पालन एक संयमी आदमी के लिए ही संभव है। यही कारण है कि प्राचीन काल में राजाओं को गुरुकुल में संयमी होने की शिक्षा सबसे पहले दी जाती थी। शिक्षक और शासक के लिए संयमी होना अनिवार्य था।

जो संयमी होगा, वह अपने कर्तव्य का पालन करेगा, किंतु अपने अधिकार का धनार्जन के लिए उपयोग नहीं करेगा। पहले भ्रष्टाचार कभी अपवाद रूप में होता था, अब वह एक आम बात हो गई है। कौन किस पर अंगुली उठाए, जब सब एक ही रंग में रंगे हुए हों। आचार्य तुलसी कहा करते थे कि आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि कोई अंगुली-निर्देश करने वाला नहीं है। कोई किसी में छिद्र क्यों देखेगा, जब उसके स्वयं के जीवन में असंख्य

छेद हैं। आज बहुत सारी बुराइयां इसलिए पैदा हुई, क्योंकि अंगुली नहीं उठती। यह कर्तव्य-च्युति की स्थिति आज हर जगह देखने को मिल रही है। परिवार में लड़का बुराई की ओर जा रहा है, किंतु मोहासक्त माता-पिता उसकी ओर से आंख मूंदे हुए हैं। विद्यालय में विद्यार्थी अध्ययन के प्रति उदासीन है, गलत दिशा में भी जा रहा है, पर अध्यापक का उससे कोई सरोकार नहीं।

वर्तमान के जो साधन हैं, वे भोग को बढ़ाने, सुख-सुविधा को बढ़ाने, इन्द्रियों को ललचाने वाले हैं। इन्द्रिय-संयम का कोई साधन सामने नहीं आ रहा है। आज किसी भी संचार-माध्यम को लें, सब सुख-सुविधा के साधनों पर ज्यादा जोर दे रहे हैं। टी.वी. के किसी भी लोकप्रिय कार्यक्रम को देखें, पांच मिनट के अंदर बीसों तरह के विज्ञापन आ जाएंगे, लेकिन संयम का प्रचार विज्ञापनों के द्वारा कहां हो रहा है?

जिस परिवार और समाज में संयम नहीं होता, वहां व्यक्ति कभी भी अपने कर्तव्य का सम्यक् पालन नहीं कर सकता, उसका दृष्टिकोण ही भोगवादी बन जाता है। संयमी अपने कर्तव्य के प्रति सदैव जागरूक रहता है। आज संयम की सर्वाधिक अपेक्षा है।

संयम : शक्ति निग्रह की

संयम क्या है? इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम है। मन और इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाए तो भोग की प्रवृत्ति उद्दाम हो जाएगी। हरे-भरे खेत की बाड़ हटा लेने पर जो दशा होती है वही दशा संयम के बिना शरीर की होगी। वर्तमान स्थिति को देखते हैं तो लगता है कि आज हर आदमी ने मान लिया कि जितने ज्यादा भोग के साधन जुटाऊंगा, जितना ज्यादा संग्रह करूंगा, उतना ही सुखी बनूंगा। जब ऐसी स्थिति हो तो वहां आदमी को कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नहीं रहता। उचित-अनुचित की बात को वह गौण कर देता है। फिर किसी के लिए लक्ष्मणरेखा कहां रह जाती है? जब-जब इन्द्रियों की आसक्ति प्रबल होती है, भीतर से भोग की आकांक्षा जागती है, सारे कर्तव्यों की विस्मृति हो जाती है।

उपाय मन की एकाग्रता का

प्रेक्षाध्यान के शिविरों में एक प्रयोग कराया जाता है—यदि मन की एकाग्रता को साधना है तो जीभ को उलटकर तालू की ओर ले जाओ। यह एक ऐसा प्रयोग है, जो क्रोध, लोभ आदि के आवेश को मंद या क्षीण करता है। आसक्ति

पर नियंत्रण करना सिखाता है। सुख होना एक बात है और सुखासक्त होना बिल्कुल दूसरी बात है। आज का आदमी सुख में इतना आसक्त हो गया कि वह तनिक भी कष्ट सहना नहीं चाहता। अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने अपने बेटे के शिक्षक को पत्र लिखा था कि आप मेरे बेटे को इतिहास, भूगोल, गणित, राजनीति, विज्ञान आदि विषयों में निष्णात कर सकें या नहीं, लेकिन कष्ट सहने और समस्याओं से जूझने में सक्षम जरूर बनाएं। सहन वही कर सकता है, जो भोगों की आसक्ति से उपरत होकर जीना जानता है।

बाधाओं और आपदाओं से लड़ने की विद्या सबसे बड़ी विद्या है। जो इस विद्या को नहीं जानता, वह जीवन के समरांगण में घुटने टेक देता है। जीवन का पथ इतना सरल नहीं है। बड़े भयावह मोड़ आते हैं इस जीवन की यात्रा में। घाटियां बड़ी गहरी हैं और पूरा रास्ता कांटों से भरा हुआ है। इस रास्ते को पार करने के लिए मनोबल चाहिए। वह भोग-विलास की प्रवृत्ति से नहीं आएगा। उसके लिए कड़ी आंच में तपना होगा। कदम-कदम पर परीक्षा देनी पड़ेगी। जो कठिनाइयों से लड़ना जानता है, वह पास होगा। जिसे सुख और आराम की लत लग चुकी है, वह पास नहीं होगा।

अमीरी : ज्यादा खतरनाक

इस दुनिया में ऐसा कोई नहीं, जिसका मार्ग पूर्णतया निरापद हो। ऐसा भी कोई नहीं, जिसके सामने कोई समस्या न आए। देश का संचालन करने वाले लोग, बड़े पदों पर बैठे लोग, यहां तक कि दुनिया का सम्राट भी समस्या से पूर्णतया बचकर नहीं जी सकता। बल्कि यह कहें कि जितना बड़ा आदमी, उतनी बड़ी उसकी समस्या। छोटा और सामान्य आदमी तो बहुत बार समस्या से मुक्त रहता है, क्योंकि उसकी जरूरतें सीमित होती हैं। दो समय की दाल-रोटी में उसे संतोष है, लेकिन बड़ा कहलाने वाला आदमी हर समय समस्या से ग्रस्त रहता है। इस दृष्टि से देखें तो अमीरी की बीमारी गरीबी की बीमारी से ज्यादा बड़ी है। भूख का कष्ट अजीर्ण के कष्ट से बड़ा नहीं है। दिन भर कड़ी मेहनत कर मजदूर एक समय की रूखी-सूखी रोटी खाकर चैन से सो जाएगा, लेकिन तरह-तरह के व्यंजन खाने के बाद अफारे की तकलीफ वे ही समझते हैं, जो भुक्तभोगी हैं। उनकी हालत बड़ी-दयनीय होती है। भूख से मर जाना विवशता है, लेकिन खाकर मर जाना तो मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं है। इन सबके आधार पर मेरा तो सूत्र बना हुआ है कि अमीरी गरीबी से ज्यादा खतरनाक है। अमीर लोगों को जागरूक हो जाना चाहिए।

समस्या कमोबेश हर जगह है। इसका कोई निश्चित क्षेत्र नहीं है। समस्या की छाया भिन्न-भिन्न रूपों में हर जगह विद्यमान है। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है–**उड्ढं सोया, अहे सोया, तिरियं सोया।**

ये तो आश्रव के या समस्या के स्रोत हैं, वे ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं और मध्य में भी हैं। आदमी कहीं भी चला जाए, ऐसा कोई स्थान उसे नहीं मिलेगा, जो समस्या से रिक्त हो।

धन शाश्वत नहीं

समस्या का समाधान अर्थ से नहीं हो सकता। एक राजा बड़ा दानी था। वह प्रतिदिन याचकों को और जरूरतमंदों को अपने खजाने से दान दिया करता था। मंत्री को यह बात बहुत खटकती थी। उसका खुले हाथ दान देना मंत्री को तनिक भी नहीं सुहाता था, लेकिन राजा तो राजा था। उसे प्रत्यक्ष रोकने-टोकने की हिम्मत मंत्री की भी नहीं होती थी। आखिर मंत्री ने एक उपाय सोचा। दरबार के प्रवेश द्वार पर जहां सुंदर सूक्तियां लिखी हुई थीं, वहां मंत्री ने अवसर देख कर लिख दिया–**आपदर्थे धनं रक्षेत्।** आपदा से बचने के लिए धन का संग्रह करना जरूरी है।

राजा ने दूसरे दिन दरबार के हाल में प्रवेश करते समय सामने लिखी पंक्ति पढ़ी। समझ गया कि इसे मंत्री ने लिखा है। एक क्षण राजा ने सोचा और उस वाक्य के नीचे एक वाक्य लिख दिया–**श्रीमतामापदः कुतः।** श्रीमंतों को आपदा या विपदा कहां से आएगी?

अगले दिन मंत्री ने अपने वाक्य के नीचे की पंक्ति देखी तो समझ गया कि यह राजा का उत्तर है। मंत्री ने हार नहीं मानी। वह अपनी बात पर अड़ा रहा और राजा के वाक्य के नीचे एक दूसरा वाक्य लिख दिया–**कदाचित् कुपितो देवः।** कभी-कभी भाग्य रूठ जाता है तो आपदा आ जाती है।

राजा प्रतिदिन सभा में आता ही था। दरबार में प्रवेश के समय द्वार पर उसकी दृष्टि गई तो अपने वाक्य के नीच उसने नया वाक्य लिखा हुआ देखा। राजा समझ गया कि मंत्री अपने विचारों पर अभी भी दृढ़ है। इस लेखनयुद्ध में अब राजा को भी आनंद आने लगा था। उसने मंत्री के वाक्य के सामने फिर एक वाक्य लिखा–**संचितं चापि नश्यति।**

संचित किया हुआ भी आखिर नष्ट हो जाता है। चार चरणों में चला यह उत्तर-प्रत्युत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है और राजा का यह कथन कि संचित किया

हुआ भी नष्ट हो जाता है, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इतिहास उठाकर देखें तो पाएंगे कि राजा भोज और सम्राट विक्रमादित्य का अतुल खजाना भी हमेशा यथावत् नहीं रहा। वह भी नष्ट हो गया। प्राचीन किलों, महलों के भग्नावशेष आज भी इस कथन की गवाही दे रहे हैं। जीवन में भाग्य भी अपनी बड़ी भूमिका अदा करता है, लेकिन भाग्य विपरीत है तो संचित की हुई अशर्फियां भी कोयले में परिवर्तित हो जाती हैं।

आदमी आपदा और विपदा की आशंका से अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करता है, किंतु सबसे बड़ी विद्या जो सुख में आसक्त आदमी सीख नहीं सकता, वह यह है कि आपदाओं का, विपत्तियों का सामना कैसे करना चाहिए? लोग इस कला को नहीं जानते, इसलिए विपत्ति भोगते हैं, दुःखी होते हैं, तनाव झेलते हैं या असमर्थ होकर आत्महत्या कर लेते हैं।

आपदा को सहना सीखें

आज परिवारों में भी ऐसे कितने ही प्रसंग आते रहते हैं। थोड़ी-सी अनबन होते ही लोग आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाते हैं। आदमी का मन जब ज्यादा तनाव नहीं झेल पाता, दबाव को सहन नहीं कर पाता तो आखिरी रास्ता आत्महत्या का बचता है। व्यापार में उतरने वाले नई उम्र के लोग भी रातों रात नंबर वन बनने का सपना देखते हैं। शेयर मार्केट ऐसा है कि कुछ भी पता नहीं चलता कि कब पारा ऊपर चढ़ जाए या कब एकदम नीचे लुढ़क जाए। ऊपर गया तब तो ठीक, यदि नीचे आ जाए, करोड़ों की देनदारी हो जाए तो आदमी दुःखी हो जाता है। निराशा में डूबा आदमी कभी-कभी अपना जीवन समाप्त कर लेता है। जो भोगासक्त होता है वह तनावजन्य परिस्थिति को झेल नहीं पाता, फलतः जीवन को समाप्त करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसा आसक्ति की तीव्रता में ही हो सकता है।

सामान्यतः धन कमाने की कला, सुख से रहने की कला, अधिकारीवर्ग को खुश रखने की कला, समाज में उभरने की कला आदि को बहुत अच्छा माना जाता है, लेकिन इसके साथ परिस्थितियों को झेलने की कला अगर नहीं सीखी तो फिर आत्महत्या का रास्ता ही शेष बचता है। आत्महत्या केवल परिस्थितियों का मारा गरीब आदमी ही नहीं करता। आत्महत्या वे भी करते हैं, जो बहुत बड़ी पोस्ट पर होते हैं, जिम्मेदारी के ओहदे पर होते हैं और जिनके पास धन-दौलत की कोई कमी नहीं होती।

मनोबल जरूरी है

जीवन समस्याओं का समन्वय है। आदमी के सामने तरह-तरह की समस्याएं आती रहती हैं। कुछ दिन पूर्व हमारे एक श्रावक के परिवार का एक प्रतिभाशाली युवक चल बसा। पीछे वृद्ध माता-पिता और पत्नी। क्या करें?

आपत्तिकाल या संकटकाल में सम रहने की कला सीखनी बहुत जरूरी है। यह कला सीखी जा सकती है ध्यान के अभ्यास से। मनोबल को बढ़ाने का अभ्यास कर लिया तो हर कठिन घड़ी में व्यक्ति अपना संतुलन बनाए रख सकता है। परिवार में प्रसन्नता एवं सामंजस्य तभी रह सकता है, जब घर के सदस्यों में मनोबल होता है।

आज के सुविधावादी युग में आदमी गर्मी में सर्दी और सर्दी में गर्मी लाने का प्रयत्न करता है। पैसे वाले परिवार इस प्रयत्न में बहुत हद तक सफल रहते हैं, कृत्रिम उपायों का प्रबंध कर लेते हैं, किंतु सामान्य आदमी के पास इसके लिए ज्यादा संसाधन नहीं होते। वे मौसम की इस कठिनाई को जैसे-तैसे झेलते हैं।

हमारे धर्मसंघ में कई संतों ने अपने जीवन में सहिष्णुता एवं मनोबल को बढ़ाने के प्रयोग किए। कोई भी यह न समझे कि व्यक्ति गरीबी से तंग आकर साधु बनता है। हमारे यहां तो अधिकांश साधु संपन्न परिवारों के हैं और रहे हैं। प्राचीनकाल में तो राजाओं ने भी संन्यास लिया। राजा भर्तृहरि जोगी बने तो उनके लिए सोने-चांदी के बर्तन और सोते समय सिर के नीचे रखने के लिए मखमली तकिया दिया गया, लेकिन उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। कह दिया कि अब तो सोते समय मेरी यह भुजा ही तकिये का काम करेगी और तुम्बी का पात्र ही मेरे काम आएगा।

आचार्य भिक्षु के प्रमुख साधु खेतसीजी स्वामी, हेमराजजी स्वामी आदि ने कष्ट सहिष्णुता का निरंतर अभ्यास किया, सुविधावाद उन पर कभी हावी नहीं हो सका। यही कारण था कि वे राजस्थान की कड़कड़ाती ठंड में भी सिर्फ एक चोलपट्टे में बाहर आ जाते और ऐसे स्थान पर खड़े हो जाते, जहां ठिठुराने वाली शीतलहर शरीर में कंपन पैदा करती थी। इस तरह के अभ्यास से उन्होंने हर मौसम के लायक एंटीबॉडी विकसित कर ली। मौसम की मार उन्हें कभी प्रभावित नहीं कर सकी।

जीवन में आंतरिक शक्तियों का विकास तभी होगा, जब बाहरी कष्टों को सहन करेंगे। आज लोग तनाव को विश्वव्यापी समस्या बता रहे हैं, किंतु यह तनाव क्यों होता है? इसीलिए कि आदमी भोगों में और सुविधाओं में जीने

का आकांक्षी बना हुआ है। कष्ट सहना नहीं चाहता। जो आदमी पदार्थ की अनित्यता और अनासक्ति के दर्शन को हृदयंगम कर लेता है, तनाव उसे कभी नहीं सताएगा। जो पदार्थ के अधीन बनकर नहीं जीता, वह कष्टों से घबराता नहीं, उन्हें आसानी से झेल लेता है।

भगवान महावीर ने हजारों वर्ष पहले यह महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया कि सुख में रहते हुए भी कष्टों को सहन करने का अभ्यास करो। ऐसा नहीं करोगे तो विपरीत परिस्थिति में कर्तव्य से विमुख हो जाओगे।

धर्म का उत्स : अतीन्द्रिय चेतना

जो सुख-सुविधा और विलास में चला जाता है, उसका धर्म के प्रति आदर नहीं रहता। सुखासक्त आदमी धर्म को गौण करता है, उसकी उपेक्षा करता है। धर्म के प्रति आकर्षण उसी में होगा, जो इन्द्रिय-सुखों की वास्तविकता को जानता है, भोगों के छलावे को समझता है। धर्म का तो उत्स ही अतीन्द्रिय चेतना है। इन्द्रिय चेतना में रहकर धर्म की आराधना कभी नहीं हो सकती। जब हम इन्द्रिय चेतना से ऊपर उठते हैं तो धर्म का प्रारंभ होता है। कुछ लोगों को नास्तिक कह दिया जाता है। नास्तिक व्यक्ति दर्शन से संबंधित चीज को समझ ही नहीं पाता। उसकी दृष्टि सिर्फ विषयभोगों तक ही सीमित रहती है। आगे क्या होगा, न इसे वह जानता है, न ही वह इस विषय में कोई परवाह ही करता है। दर्शन तो विचारों के गहन अध्ययन की चीज है। कोई तात्त्विक आधार पर धर्म को नहीं मानता तो बात समझ में आती है, किंतु विषयों में उलझा आदमी तो सामान्य-सी चीज को भी समझना नहीं चाहता, दर्शन जैसे गहन तत्त्व को क्या समझेगा?

सचाई को वही व्यक्ति समझ सकता है, जो इन्द्रिय चेतना से परे भी कुछ सोचता है, जानता है। किसी परिवार में पिता का इकलौता जवान पुत्र अकस्मात चल बसा। पेशे से वह व्यक्ति कृषक था, लेकिन बहुत समझदार और तत्त्व का जानकार था। आज भी गांवों और कस्बों में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जिन्होंने कहीं से कोई उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की, पढ़े-लिखे नहीं हैं, फिर भी ज्ञान की बात करते हैं। युवा पुत्र के अचानक चले जाने से पत्नी बेहाल हो गई, लेकिन उस व्यक्ति की आंखों में आंसू नहीं थे। पत्नी बोली–'तुम कैसे पिता हो, जवान बेटा चला गया और तुम सहज भाव से बैठे हो। क्या तुम्हें दुःख नहीं है?'

किसान समझदार था, उसने पत्नी की बात सुनी और कहा–'कल रात मैंने एक सपना देखा कि मेरे आठ बेटे हैं। मैं चारपाई पर लेटा आराम कर रहा

हूं और आठों पुत्र मेरे इर्द-गिर्द बैठे मेरी सेवा कर रहे हैं। आंख खुलने पर मैंने पाया कि मेरे आठों बेटे जा चुके हैं। मैं उन्हें जीवित नहीं देख सका। अब तुम बताओ मैं उन आठ बेटों के वियोग पर रोऊं या इस अकेले बेटे के वियोग पर?'

जो व्यक्ति सचाई को जानता है, वह कष्टों को आसानी से झेल लेता है। मेघकुमार को दिया गया भगवान महावीर का सूत्र जीवन की वास्तविकता का बोध कराता है और कठिन परिस्थितियों से जूझने की सामर्थ्य देता है। कष्ट से घबराने वाला एक दिन अपने स्वत्व को गंवा देता है। हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ें तो पाएंगे कि यह देश पराधीन बना तो यहां के राजाओं की अतिशय विलासिता के कारण बना। शत्रु की सेना बढ़ती चली आ रही है, मंत्री बार-बार सावधान कर रहा है और विलासी राजा रनिवास में सुरापान करता हुआ एक ही उत्तर देता है कि आने दो, किले तक पहुंचेंगे तो हम देख लेंगे।

आज हर व्यक्ति को समय रहते सचेत हो जाने की जरूरत है। इसके पहले कि शरीर सुखों का आदी और दास हो जाए, इसे कष्ट सहने की आदत डालनी पड़ेगी। यदि कष्ट सहिष्णुता का, सादगी और संयम से जीने का अभ्यास है तो व्यक्ति हर परिस्थिति में प्रसन्नता और आनंद का अनुभव कर सकता है, जीवन के हर क्षेत्र में सफलता का वरण कर सकता है।

10. आर्जव

गौतम ने पूछा, 'भंते! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है?' भगवान महावीर ने कहा–'गौतम! आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावों की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और संवादी प्रवृत्ति अर्थात् कथनी और करनी की समानता को प्राप्त करता है।'

अज्ञान, संदेह और माया

आर्जव का अर्थ है सरलता। सरलता वह प्रकाश-पुंज है, जिसे हम चारों ओर से देख सकते हैं। भगवान महावीर ने कहा–'निर्मलता उसे प्राप्त होती है, जो ऋजु होता है।' कपटी मनुष्य का मन कभी निर्मल नहीं होता है। बच्चे का मन सरल होता है, इसलिए उसके प्रति सबका स्नेह होता है। हम जैसे-जैसे बड़े बनते हैं, समझदार बनते हैं, वैसे-वैसे हमारे मन पर आवरण आते रहते हैं। आवरण अज्ञान का होता है। आवरण संदेह का होता है। आवरण माया का होता है। हम दूसरे व्यक्ति को जानने का यत्न नहीं करते, इसलिए हमारा मन उसके प्रति सरल नहीं होता। हम दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास नहीं करते, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नहीं होता। हम दूसरे व्यक्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते है, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नहीं होता। यदि इस दुनिया में अज्ञान, संदेह और कपट नहीं होता तो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम की धारा बहती। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दूरी नहीं होती। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से विभक्त नहीं होता। एक संस्कृत-कवि ने कहा है–**संधत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी**–सूई सरल होती है, इसलिए जोड़ती है, दो को एक करती है और कैंची टेढ़ी होती है, इसलिए वह काटती है, एक को दो करती है।'

सरलता मनों को सांधती है। माया कैंची का काम करती है, मनों के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है।

नीतिशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने कहा है–'मनुष्य को ज्यादा सरल नहीं होना चाहिए। देखो, जो वृक्ष बहुत सरल अर्थात सीधे होते हैं, वे काट दिए

जाते हैं और जो टेढ़े होते हैं, वे नहीं काटे जाते।' इस नीति-वाक्य ने मानवीय हृदय में प्रज्ज्वलित सरलता के दीप को बुझाने का काम किया है। क्या आप टेढ़े शरीर वाले मनुष्य को पसंद करते हैं? क्या आप टेढ़ी बात करने वाले का विश्वास करते हैं? क्या अपने साथ कुटिल व्यवहार करने वालें को पसंद करते हैं? क्या मन में कुटिलता रखने वाले को आप पसंद करते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर नकार की भाषा में होगा अर्थात् आप उन्हें पसंद नहीं करते हैं। तब यह कैसे माना जाए कि हमें बहुत सरल नहीं होना चाहिए? यदि हर आदमी का मन खुली पोथी जैसा होता तो मनुष्य-मनुष्य से डरता ही नहीं। आज एक आदमी दूसरा आदमी से इसलिए डरता है कि उसके मन में छुपाव है, घुमाव है, अस्पष्टता है और अंधकार है।

सरलता : मन का प्रकाश

हम भोले न हों अर्थात् सामने की स्थिति का प्रतिबिंब लेने की स्वच्छता से वंचित न हों तो साथ-साथ हम मायावी भी न हों अर्थात् अपने मन की कलुषता से सामने वाले के मन को कलुषित करने की दक्षता से संपन्न भी न हों। हम सरल हों, वातावरण के प्रति सजग हों, किंतु दूसरों के प्रति मन में मलिन भाव न हो। जिसका मन सरल होता है, वह दूसरों से ठगा नहीं जाता। ठगा वही जाता है, जिसके खुद के मन में मैल होता है।

एक बुढ़िया जा रही थी। सिर पर एक गठरी थी। उसी रास्ते से एक युवक जा रहा था। उसके मन में करुणा का भाव आया। उसने बुढ़िया से कहा–'दादी! कुछ देर के लिए गठरी मुझे दे दो। तुम्हें थोड़ा-सा विश्राम मिल जाएगा।' बुढ़िया ने उसका भाव देखा और गठरी उसे दे दी। थोड़ी देर बाद बुढ़िया ने गठरी वापिस ले ली। युवक का मन बदल गया। उसने सोचा–गठरी मेरे पास थी। उसे लेकर मैं भाग जाता तो बुढ़िया मेरा क्या करती? युवक ने फिर गठरी मांगी। बुढ़िया ने वह नहीं दी। उसने फिर आग्रह किया तो बुढ़िया ने कहा–'बेटा! अब नहीं दूंगी।' उसने पूछा–'दादी! अब क्यों नहीं दोगी?' बुढ़िया बोली–'बेटा! अब नहीं दूंगी। जो तुझे कह गया, वह मुझे भी कह गया।'

सरलता मन का वह प्रकाश है, जिसमें कोई भी वस्तु अस्पष्ट नहीं रहती। माया मन का वह अंधकार है, जिसमें आदमी भटकता है और भटकता ही रहता है।

11. ऋजुता और भावशुद्धि

आत्मा को पढ़ने का तीसरा सूत्र है ऋजुता, सरलता। हम आर्जव को दो आयामों में समझने का प्रयत्न करें। एक भाव विशुद्धि और एक अविसंवाद। मन सामने आ जाता है, वाणी सामने आती है, शरीर की चेष्टा भी सामने आती है, पर भाव हमारे सामने नहीं आता। वह भीतर बैठा-बैठा अपना काम करता है। सेनापति रणभूमि में नहीं जाता, अपने कंट्रोल रूप में बैठा-बैठा संचालन करता रहता है और सेना सामने आती है। भाव हमारे भीतर रहता है, वह काम लेता है अपने कर्मचारियों से। उसके तीन कर्मचारी हैं–मन, वाणी और शरीर।

संचालक है भाव

भाव किसी के सामने नहीं जाता, वह इन तीनों से काम करा लेता है। भाव अशुद्ध होता है, मन अशुद्ध हो जाता है, वाणी अशुद्ध हो जाती है, शरीर भी अशुद्ध क्रिया करने लग जाता है। भाव का प्रतिबिंब इन तीनों पर पड़ता है। ये तीनों भाव का निर्देश प्राप्त कर अपने कार्य का संचालन करते हैं। माया पर्दा है, एक आच्छादन है, जो हर एक को ढक लेता है। भाव अशुद्ध होता है तो सब चीजों को ढक देने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। छुपाओ, प्रकट मत होने दो। मन को भी आदेश मिलता है कि छुपा लो, वाणी और शरीर को भी यही आदेश मिलता है कि छुपाओ। तीनों वक्र बन जाते हैं, तीनों में टेढ़ापन आ जाता है। गुरु ने पूछा–आज तुम भिक्षा लेकर देरी से क्यों आए? शिष्य बोला–रास्ते में नट नाच रहे थे, देखने लग गया। नृत्य अच्छा था, उसे देखने के कारण देरी हो गई। गुरु ने कहा–साधु को नटों का नृत्य देखना नहीं है। भविष्य में ध्यान रखना। कुछ दिन बाद फिर भिक्षा से आने में देरी हुई। गुरु ने पूछा–आज तुम फिर देरी से क्यों आए? वह बोला–रास्ते में नाटक हो रहा था, इसलिए मैं ठहर गया। गुरु ने कहा–मैंने निषेध किया था कि देखना नहीं है। बोला–आपने कहा था कि नट का नृत्य नहीं देखना है, पर आज तो नर्तकियां नाच रही थीं। आपने उनको देखने की मनाही कब की थी? यहां वक्रता आ गई।

वक्रता वाणी की

जहां सचाई को छुपाने का प्रयत्न होता है, वाणी में भी वक्रता आ जाती है। न्याय शास्त्र में जाति और छल का प्रयोग होता है। एक व्यक्ति ने कहा–नव कंबल लाया हूं। दूसरे ने कहा–बहुत अच्छा काम किया। कंबलों की अभी बहुत जरूरत है। नव कंबल का मतलब है नौ कंबल ले आया। सब लोग बहुत खुश हुए। बोले–कहां है कंबल? बोला–यह रहा। अरे! तुमने तो कहा था नौ कंबल, यह तो एक कंबल है। मैंने कब कहा था नौ कंबल? मैंने तो कहा था नव कंबल यानी नया कंबल। यह है वाक्-वक्रता। इस प्रकार बहुत लोग वाणी की वक्रता करते हैं। भीतर भाव है माया का और वह भाव जब मन को आदेश देता है तब मन की चेष्टा वक्र हो जाती है और जब वाणी को निर्देश देता है तब वाणी की चेष्टा वक्र हो जाती है और जब शरीर को निर्देश देता है तब शरीर की चेष्टा भी वक्र हो जाती है। कोई पूछे–यह रास्ता किधर जाता है? उत्तर दिया जाए–इधर जाता है। अब जाना तो दूसरी तरफ है, पर अंगुलि का निर्देश इस प्रकार किया कि वह भिन्न दिशा में चला गया। व्यक्ति के भावों में वक्रता आ जाती है तो शरीर की चेष्टाएं वक्र हो जाती हैं। भाव कुछ और होता है, दिखाया कुछ और जाता है। भीतर कुछ होता है, बाहर कुछ दिखा दिया जाता है। शरीर की चेष्टा को काव्यशास्त्र में हाव, भाव, विभ्रम आदि अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया गया है।

भावशुद्धि

शरीर की वक्रता, वाणी की वक्रता और मन की वक्रता कहां से आती है? यह टेढ़ापन कहां से आ रहा है? यह सारा भीतर से आ रहा है। यह भाव की अशुद्धि से आ रहा है। जब भाव अशुद्ध होता है तो कभी क्रोध प्रधान हो जाता है, कभी अहंकार प्रधान हो जाता है और कभी माया प्रधान हो जाती है। जब माया का भाव प्रधान होता है तब व्यक्ति माया का आचरण करता है। भाव सारी चेष्टाओं को वक्र बना देता है। वहां हमारी ऋजुता नहीं रहती।

शास्त्रकार ने कहा–आर्जव का पहला अर्थ है भाव शुद्धि। भाव शुद्ध है तो आदमी में ऋजुता अपने आप होगी, उसमें कुटिलता नहीं होगी। जब भाव शुद्ध नहीं होता है तब समस्या पैदा होती है। हम भाव को समझने का प्रयत्न करें। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भाव अशुद्ध नहीं है फिर भी आदमी को व्यवहार के रूप में माया करनी पड़ती है। वह माया का भाव शायद आत्मा के दर्शन में, आत्मा की पढ़ाई में उतना बाधक नहीं बनता। वह माया बाधक बनती

है, जो अशुद्धि के साथ आती है। साधु भीतर भोजन करते हैं तब पर्दा डाल देते हैं, छुपाते हैं, लेकिन वहां भाव अशुद्ध नहीं हैं। व्यक्ति कपड़े पहनता है, अपने शरीर को छुपाता है और अपने शरीर के विकारों को छुपाता है, पर वह कोई भावों की अशुद्धि नहीं है। वह एक व्यवहार की बात है। व्यवहार को सम्यक् करने में जो पर्दा डाला जाता है, वह भाव की अशुद्धि नहीं है। जहां भाव की अशुद्धि है वहां यदि छुपाने की बात आती है तो वहां आत्मा की पढ़ाई में बाधा आ जाती है। हमारे भाव अशुद्ध न हों।

कहा जाता है कि स्त्रियों ने भी परिस्थितिवश पर्दा शुरू किया था। आज भी कहीं-कहीं चल रहा है। जब मेला लगता था, परिस्थितियां आईं तब पर्दा डालने की प्रथा भी चली, परंतु उसके पीछे भाव की अशुद्धि नहीं थी। कभी-कभी व्यावहारिक समस्या को सुलझाने के लिए भी छुपाने की बात आती है, पर वहां भाव अशुद्ध नहीं होता।

दो भाइयों में बड़ा प्रेम था। पिता का देहावसान हो गया। अब बंटवारे की बात आई। यह एक ऐसी व्यापक समस्या है कि पिता की उपस्थिति में ठीक बंटवारा नहीं करते और बाद में करते हैं तो झगड़ा निपटना मुश्किल हो जाता है। आपस में जब तक प्रेम रहता है, तब तक व्यवस्था नहीं करते हैं और प्रेम टूटने के बाद व्यवस्था करना चाहते हैं। इससे बहुत झंझट हो जाता है। मैंने बहुत बार इसका अनुभव किया है। एक परिवार में सारा बंटवारा हो गया, केवल एक अंगूठी बच गई। एक कहता है–मैं लूंगा। दूसरा छोटा भाई कहता है–मैं लूंगा। एक अंगूठी और लेने वाले दो। कैसे समस्या सुलझे? समस्या को सुलझाने के लिए एक व्यक्ति को मध्यस्थ बनाया गया। समस्या सामने रख दी गई। उसने कहा–अंगूठी मुझे दें। दो दिनों तक अंगूठी मैं पास में रखूंगा, फिर चिंतन करके बताऊंगा। बड़े भाई को अपने घर पर बुलाया। बुलाकर कहा–यह देखो अंगूठी। तुम लेना चाहते हो तो यह ले जाओ, पर किसी को बताना मत और पहनना भी नहीं है। यह शर्त मानो तो अंगूठी ले सकते हो। उसने कहा–बिल्कुल मान्य है और उसे अंगूठी दे दी। अगले दिन छोटे को बुलाया और कहा–अंगूठी के बारे में किसी को नहीं बताओ तो अंगूठी मिल सकती है और पहनना भी नहीं है। भीतर ले जाकर तिजोरी में रख दो। यह शर्त मान्य है तो अंगूठी मिल सकती है। दूसरे भाई ने भी शर्त को स्वीकार कर लिया। उसे वह अंगूठी दे दी और झगड़ा समाप्त हो गया। हुआ क्या? थोड़ा मायाचार करना पड़ा। स्वर्णकार से वैसी की वैसी दूसरी अंगूठी बनवा दी और दोनों भाइयों को दे दी। उनका झगड़ा

समाप्त हो गया। छिपाना तो पड़ा, पर यह दूषित भाव से छुपाना नहीं हुआ। समस्या का समाधान करने के लिए या व्यवहार का संचालन करने के लिए व्यवहार पर पर्दा डालना पड़ा।

माया वहां होती है, जहां हमारे भीतर के भाव दूषित होते हैं। सरदारशहर में पूज्य कालूगणी विराज रहे थे। मैं उस समय दीक्षित हुआ और मुनि बुद्धमलजी भी दीक्षित हो गए। एक बार एक नया कंबल आया। मुझे भी लेना था और मुनि बुद्धमलजी को भी लेना था। उन्होंने कहा–मुझे दो। मैंने कहा–मुझे दो। हम दोनों छोटे साधु थे। दोनों आग्रह पर आ गए। अब कालूगणी ने सोचा–क्या किया जाए? एक को दूंगा तो दूसरा नाराज हो जाएगा। कालूगणी ने दोनों कंबल अपने हाथ में ले लिए। एक कंबल साफ था तथा दूसरे पर दाग थे। वह अच्छा नहीं था। कालूगणी ने दोनों कंबल भीतर छुपा लिए और उनका किनारा बाहर रखा, हमको बुलाकर कहा–लो पकड़ लो। मैं दीक्षा में बड़ा था। मुझे बोला गया–लो, तुम पकड़ो। मैंने पकड़ लिया और जो दाग वाला कंबल था, वह मेरे पास आ गया। यह माया नहीं थी। यह था समस्या का व्यावहारिक समाधान। जहां भीतर का भाव अशुद्ध है, वहां माया होती है। वहां आर्जव नहीं होता।

जहां शुद्धि, वहां धर्म

यदि हमें आत्मा को पढ़ना है तो आर्जव का विकास करना होगा। हमारे भीतर का भाव अशुद्ध नहीं होना चाहिए। भावों की पवित्रता रहनी चाहिए, फिर मन, वाणी, शरीर तीनों अपने आप सरल रहेंगे, उनमें कुटिलता नहीं आएगी। जब आर्जव आता है तब धर्म की चेतना जागती है। धर्म जीवन में कब आता है? जब आत्मा शुद्ध होती है तब धर्म आता है। उत्तराध्ययन सूत्र का सुंदर वक्तव्य है–**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ**–धर्म पवित्र आत्मा में ठहरता है। आत्मा में शुद्धि कैसे आती है? **सोही उज्जुयभूयस्स**–ऋजुता से शुद्धि आती है। जहां शुद्धता है वहां धर्म ठहरता है। आर्जव के बिना धर्म नहीं ठहरता। आचार्य भिक्षु ने शील की नव बाड में एक सुंदर प्रसंग दिया है। एक व्यक्ति ने बहुत खा लिया। पेट में दर्द हुआ। आंते फटने लग गईं। पेट में अफारा आ गया और वैद्य को बुलाया गया। वैद्य ने नाड़ी देखी और कहा–कोई दोष नहीं है। तुमने ज्यादा खाया है। उसने कहा–नहीं, मैंने ज्यादा नहीं खाया है। वैद्यजी ने कहा–सच सच बताओ तब वह बोला–हां, मैंने ज्यादा खा लिया है। अपनी बात छुपाने के लिए व्यक्ति कभी कह देता है कोई हवा लग गई है। बहुत बार कह देते हैं कि भूत का आवेश है। मूल बात को छुपा देते हैं। ऊपर का आरोपण करते हैं। यह

आरोपण आत्मा की पढ़ाई में बाधक है। इसलिए हमारी भाव-विशुद्धि निरंतर बनी रहे।

अविसंवाद

आर्जव का दूसरा अर्थ है अविसंवाद। भाषा में विसंवाद न हो। कहा कुछ, किया कुछ–यह विसंवाद है। अपने लिए कुछ, दूसरे के लिए कुछ, एक के लिए कुछ दूसरे के लिए कुछ, यह जो विसंवादिता है, कथनी-करनी का अंतर है, यह बहुत घातक होता है। यह आत्मा की पढ़ाई में बहुत बाधक होता है। एक व्यक्ति किसी संन्यासी के पास बहुत जाता था। कुछ समय बाद उसने जाना बंद कर दिया। हमने पूछा–तुम वहां बहुत जाते थे, अब क्या हो गया? बोला–अब मैंने छोड़ दिया। क्यों छोड़ दिया? मुझे यह अनुभव हो गया कि मंच पर बोलते हैं तो एक बात होती है और जीवन में देखता हूं तो दूसरी बात होती है। इसलिए मैंने जाना छोड़ दिया। यह विसंवाद है। प्रवचन स्थल पर उपदेश देते समय जो बात कही जाती है, यदि जीवन में वह बात नहीं होती तो वहां विश्वास पैदा नहीं होता। विश्वास वहीं जमता है जहां वचन और व्यवहार में संवादिता होती है।

विसंवाद का भाव अशुद्धि के कारण होता है। अशुद्धि के कारण माया भी होती है। यह माया राजनीति में तो चल सकती है, परंतु आत्मा की पढ़ाई में यह नहीं चल सकती। वहां यह बंधन का कारण बन जाती है। धर्म के क्षेत्र में वंचनापूर्ण व्यवहार करने वाला अकुशल माना जाता है। वह कुशल धार्मिक नहीं हो सकता। कुशल धार्मिक वह होता है, जो किसी भी स्थिति में बात बदलने को तैयार नहीं होता। कुशल धार्मिक वह होता है जिसके जीवन में विसंवादिता नहीं होती। विश्वास किसका होता है? जिसके व्यवहार में संवादिता होती है।

दर्शन शास्त्र में और तर्क शास्त्र में आप्त पुरुष का उल्लेख आता है। आप्त पुरुष उसे कहा जाता है, जो यथार्थविद और यथार्थवादी होता है। जिसका कथन संवादी होता है, वह भी आप्त पुरुष होता है। किसी ने पूछा–प्यास बहुत लगी है। पानी कहां मिलेगा? कहा–यहां से एक किलोमीटर आगे चले जाओ। वहां बढ़िया तालाब है, अच्छा पानी मिलेगा। एक किलोमीटर आगे पहुंचा और वहां तालाब आ गया। जैसा कहा वैसा ही है, इसका अर्थ है उसकी वाणी में विसंवाद नहीं है, संवादिता है। विसंवादी बात भटकाने वाली होती है। रास्ते में कहीं दस किलोमीटर तक पानी नहीं मिला। चलता ही चला, चलता ही

चला। पानी की बूंद भी नहीं आई। वहां विसंवाद हो जाता है। संवादिता बराबर रहे, यह बहुत बड़ी अपेक्षा है। समाज में जहां विसंवादिता होती है, जहां एक बात से दूसरी बात का मेल नहीं होता, समस्या पैदा हो जाती है। हर आदमी अपेक्षा रखता है कि सही संवाद मिले। जहां विसंवादिता आ जाती है वहां भावों की शुद्धि नहीं रह पाती।

आर्जव के दो लक्षण हो गए—एक भाव-विशुद्धि और दूसरा अविसंवाद। जो व्यक्ति आत्मा को पढ़ना चाहे, उसे आर्जव का अभ्यास करना जरूरी है यानी निरंतर भाव विशुद्धि रहे, मेरे भावों में कलुषता न आए, मलिनता न आए, भाव पवित्र बना रहे। भाव भीतर बैठा है। उससे हमारा सीधा संपर्क नहीं होता। मन के साथ सीधा संपर्क हो जाता है, वाणी और शरीर के साथ संपर्क सीधा होता है। वह अपने तीनों माध्यमों के द्वारा ही सारा काम चलाता है। हम यह प्रयत्न करें कि मन शुद्ध हो, वाणी शुद्ध हो, शरीर शुद्ध हो। इससे पहले हमें यह प्रयत्न करना चाहिए कि भाव विशुद्धि हो। अगर भाव शुद्ध नहीं हैं तो आप मन को पवित्र बनाना चाहेंगे तो भी वह नहीं बनेगा, न वाणी पवित्र बनेगी, न शरीर पवित्र बनेगा।

हम भाव विशुद्धि की साधना करें। हमारे आंतरिक भाव नकारात्मक न बने, सकारात्मक रहे, यह साधना करें। अगर आप का भाव विधायक है तो मन, वाणी और शरीर तीनों आपका साथ देंगे। तीनों अच्छे बन जाएंगे। आपका भाव नकारात्मक है, न मन अच्छा रहेगा, न वाणी अच्छी रहेगी, न शरीर अच्छा रहेगा। नकारात्मक भाव आते ही समस्या पैदा हो जाती है। इसलिए हम क्षमा, मुक्ति और ऋजुता आदि सूत्रों का अभ्यास करें। ऐसा करके ही हम आत्मा की पढ़ाई कर सकते हैं। अभ्यास करते-करते आत्मा का साक्षात्कार भी कर सकते हैं, इसलिए हमें आर्जव पर बहुत गहराई से चिंतन और मनन करना चाहिए।

12. जहां सरलता वहां सत्य

धार्मिक जगत में, चिंतन के जगत में एक शब्द सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित रहा है और वह शब्द है–सत्य। अहिंसा का भी बहुत मूल्य है, किंतु सत्य शब्द बहुत गरिमापूर्ण और बहुत मान्य रहा है। कुछ विचारक सत्य को पहले मानते हैं, अहिंसा को दूसरा स्थान देते हैं। जब पुज्य गुरुदेव का चतुर्मास कानपुर में था तब आचार्य विनोबा भावे से एक संवाद मिला कि आप लोग अहिंसा को प्रथम स्थान देते हैं जबकि सत्य को पहला स्थान देना चाहिए। इस विषय पर काफी चर्चा हुई। मैंने भी उस पर लिखा, उन्होंने भी लिखा, काफी चिंतन चला। वास्तव में देखें तो अहिंसा और सत्य दो नहीं हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आचार्य हरिभद्र आदि ने कहा–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पांच भेद कर दिए गए, पर वास्तव में तो एक ही है। चाहे उसको अहिंसा कह दो, सत्य कह दो या कुछ भी कह दो, एक ही है। अलग-अलग भेद नाम के कारण हो गए, पर मूल में एक ही है।

सत्य का बहुत मूल्य रहा है। भगवान महावीर ने सत्य को बहुत मूल्य दिया। चाहे जीत हो या हार हो, अंतिम सार है–सत्य। उसके सार को कभी मिटाया नहीं जा सकता। सत्य बहुत प्रतिष्ठित रहा है। सत्य वाणी का प्रयोग, सत्य भाव, सत्य मानसिकता कब होती है? सत्य से जुड़ा हुआ एक महत्त्वपूर्ण शब्द है निःशल्य। हमें इस पर ध्यान देना चाहिए। जब तक शल्य की बात नहीं समझेंगे तब तक सत्य पर ध्यान नहीं दे पाएंगे।

मूल्य : एक अंतर्व्रण

आगमवाणी का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है –

तओ सल्ला पण्णत्ता, तं जहा–

माया सल्ले, णियाण सल्ले, मिच्छादंसण सल्ले।

तीन प्रकार का शल्य होता है–माया, निदान और मिथ्या दृष्टिकोण। जब तक शल्य है, तब तक जीवन में सत्य आ नहीं सकता। शल्य एक अंतर्व्रण है।

आज की भाषा में कहें तो शल्य का अर्थ है कैंसर। सरल होना बहुत मुश्किल है, ऋजुता बहुत बड़ा गुण है। जयाचार्य ने भिक्षु स्वामी के चरित्र, **भिक्षु जश रसायन** में लिखा कि भिक्षु स्वामी बहुत सरल थे। ऐसा सरल व्यक्ति तो मिलना मुश्किल ही नहीं महामुश्किल है। उनके जीवन में कहीं छिपाव नहीं था। कुछ लोग सरल और भोले को एक ही मान लेते हैं, पर दोनों अलग होते हैं। जिसमें समझ नहीं होती वह भोला होता है। सरल वह होता है, जो समझदार होने पर भी कपटाचरण नहीं करता, मायाचार नहीं करता। सरल व्यक्ति बात को स्पष्टता से प्रस्तुत करता है। बात नहीं बताने की है तो बताता नहीं, किंतु माया नहीं करता। किसी बात के बीच में पर्दा नहीं डालता। शल्य रहित होना बहुत बड़ी बात है। छिपाना हर कोई व्यक्ति जानता है। कभी-कभी व्यक्ति संगति से भी मायाचरण सीख लेता है।

मनुष्य में छिपाने की यह प्रवृत्ति नहीं होती तो बुराइयां बहुत कम हो जातीं। अपराध भी कम हो जाते। सारे अपराध माया के आधार पर चल रहे हैं। आज से बीस-तीस वर्ष पहले जब राशन लगता, चीनी पर लगता या और किसी भी अन्य चीज पर लगता तो ऐसा होता कि पहले दिन बाजार भरा है और जैसे ही राशन कंट्रोल की बात आती, सारा माल एक दिन में गायब हो जाता। सब कुछ भूमिगत हो जाता, छिप जाता। यह छिपाने की बात अपराध और बुराई को बढ़ावा देने की बात है। अगर स्पष्टता रहे और सरलता रहे तो जीवन बहुत अच्छा हो सकता है। सत्य और सरलता दो शब्द हैं, लेकिन अर्थ की दृष्टि से भिन्न नहीं हैं। सत्य का मतलब है सरलता और सरलता का मतलब है सत्य। एक ही बात है। भगवान महावीर ने ठाणं में कहा –

चउव्विहे सच्चे पण्णते, तं जहा–

काउज्जुयया भासुज्जुयया, भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे॥

निःशल्य बनें

बहुत लोग ऐसे होते हैं जिनमें काया की सरलता नहीं होती। वे दूसरे को संशय में डाल देते हैं। पूछा जाता है कि यह रास्ता किधर जाता है। एक अंगुली इस तरह से घुमाई जाती है कि सामने वाला बेचारा परेशान हो जाता है। काया की भी बड़ी कुटिलता होती है। ऐसे गलत संकेत देते हैं कि व्यक्ति सचाई को पकड़ ही नहीं पाता। जहां भाषा की ऋजुता नहीं होती, वाणी से ऐसी टेढ़ी बात कह दी जाती है कि सामने वाला व्यक्ति उलझ जाता है। भावों की भी

कुटिलता होती है। जहां सरलता नहीं होती, वहां अविसंवादिता नहीं होती। कथनी-करनी में एकरूपता नहीं होती।

राजा का प्रिय घोड़ा था। बीमार हो गया। बहुत चिकित्सा कराई। बड़े-बड़े वैद्य आए, लेकिन ठीक नहीं हुआ। पुराना जमाना था, उस समय वर्तमान की तरह शल्य चिकित्सा नहीं होती थी। उस जमाने में अलग तरह से शल्य चिकित्सा होती थी। सुश्रुत में शल्य चिकित्सा का पूरा वर्णन मिलता है। एक कुशल अनुभवी वैद्य आया, उसने सारी जांच की। उसके बाद पूछा –महाराज! क्या यह घोड़ा कभी लड़ाई में गया था? राजा ने कहा–हां, गया था। बात पकड़ में आ गई। पुराने समय में कई ऐसे उपाय होते थे, जिनसे भीतर का पता लगा लेते। उस समय बिना एक्स-रे के भी भीतर का पता लगाने की विधि विकसित थी। फिर पूछा–क्या इसके युद्ध में बाण लगा था? राजा ने कहा–बाण लगा था, किंतु बाण को तो निकाल दिया। उसने कहा–महाराज! बाण तो निकाल दिया, पर बाण का अग्रभाग इसके भीतर रह गया है। उसने शल्य चिकित्सा की। शल्य को निकाला और घोड़ा एकदम स्वस्थ हो गया, पुष्ट हो गया।

हमारे भीतर भी शल्य रहते हैं तो चुभते रहते हैं। जब तक शल्य नहीं निकलता, तब तक दिमाग स्वस्थ नहीं होता, सचाई भी सामने नहीं आती, सारा माया का जीवन चलता है। आदमी चाहे व्रती बने, सम्यक दृष्टि बने, सबसे पहले निःशल्य बनना जरूरी है। उमास्वाति ने ठीक लिखा है–जिसमें शल्य है, वह न व्रती बन सकता और न सम्यक्त्वी बन सकता है। मिथ्या दृष्टिकोण स्वयं एक शल्य है, फिर वह कैसे सम्यक् दृष्टि बनेगा? इसलिए अध्यात्म के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में, साधना के क्षेत्र में जब भी व्यक्ति आना चाहे, उसे सबसे पहले इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि मैं शल्योद्धार कर दूं। कहीं भी शल्य है तो उसको निकाल कर बाहर फेंक दूं, इससे जीवन में सत्य का प्रवेश होगा। एक धार्मिक व्यक्ति के जीवन में व्रत का बहुत महत्त्व है। जीवन में व्रत का प्रवेश हो, इसके लिए अपने मन के आंगन को निःशल्य बनाना जरूरी है, हम शल्य को समग्रता से समझें और निःशल्य होने की साधना करें। शल्यमुक्त होकर ही व्यक्ति अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है।

13. मार्दव

गुलाब के फूल में जो सौंदर्य और सुगंध है, वह हर फूल में नहीं है। यह उत्कर्ष और अपकर्ष प्रकृति का नियम है। जहां पहाड़ है, वहां चोटी भी है और तलहटी भी है। पहाड़ में विचार-शक्ति नहीं है, इसलिए उसकी चोटी और तलहटी में कोई संघर्ष नहीं है। मनुष्य विचारशील प्राणी है। जो तलहटी पर खड़ा है, वह चोटी वाले को देख हीनभावना से भर जाता है और जो चोटी पर खड़ा है, वह तलहटी वाले को देख अहंभाव से भर जाता है। मनुष्य में लंबे समय से हीनता और उच्चता का संघर्ष चल रहा है। अमेरीका जैसे सुसंस्कृत देश में जातीय दंगे होते हैं। गोरे आदमी काले आदमियों को हीन मानते हैं। कभी-कभी उसकी प्रतिक्रिया जातीय द्वेष का रूप ले लेती है।

हिन्दुस्तान जैसे धार्मिक देश में स्पृश्य और अस्पृश्य–ये दो श्रेणियां आज भी चल रही हैं। कितने लोगों ने अस्पृश्यता के अभिशाप से अभिशप्त होकर धर्म-परिवर्तन किया है और कर रहे हैं। जिस वर्ग ने उत्कर्ष प्राप्त किया, उसने दूसरे वर्ग को अपने से निम्न ठहराकर ही संतोष की सांस ली। यह मनुष्य का मद है। मद अधर्म का द्वार है। इसमें प्रवेश पाकर मनुष्य ने सदा दूसरे मनुष्यों के प्रति क्रूर व्यवहार किया है।

भगवान महावीर से पूछा गया–'भंते! धर्म के द्वार कितने हैं?'

भगवान ने कहा–'धर्म के चार द्वार हैं।'

'कौन-कौन से, भंते?'

भगवान ने कहा–'क्षांति, मुक्ति, ऋजुता और मृदुता।'

मृदुता नहीं तो धर्म नहीं

मृदुता धर्म के प्रासाद में प्रवेश पाने का एक द्वार है। पहले द्वार, फिर प्रासाद द्वार में प्रवेश पाए बिना कोई प्रासाद तक नहीं पहुंच सकता। क्या मृदु बने बिना कोई धार्मिक हो सकता है? कोई आदमी धार्मिक तो है, किंतु मृदु

नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि दिन तो है, पर प्रकाश नहीं है। प्रकाश के बिना दिन का अस्तित्व किसी को भी मान्य नहीं है, फिर मृदुता के बिना धर्म का अस्तित्व कैसे मान्य होगा? धार्मिक जगत ने मृदुता को मान्यता दी है, पर उसका अर्थ-बोध बहुत संकुचित है। मृदुता का पूर्ण अर्थ है–कठोरता का विसर्जन, क्रूरता का विसर्जन। जिसका हृदय मृदु नहीं है, उसका सिर झुक जाता है, फिर भी क्या वह मृदु है? मृदु वह हो सकता है जिसके हृदय में करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। जिसके हृदय में करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है, वह शोषण नहीं कर सकता, अपनी सुख-सुविधा में दूसरों की सुख-सुविधा को विलीन नहीं कर सकता, दूसरों को हानि पहुंचे वैसा कार्य नहीं कर सकता।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा कि 'भंते! मृदुता से क्या प्राप्त होता है?'

भगवान ने कहा–'गौतम! मृदुता से अपने आपको दूसरों से अतिरिक्त मानने की भावना मर जाती है।'

इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति भगवान के घर से नहीं आया है। हम सब मनुष्य हैं, इसलिए हर मनुष्य दूसरे मनुष्य से मानवीय व्यवहार की अपेक्षा रखता है।

सिंह चलता है, तब मुड़कर पीछे देखता है। क्या धार्मिक के लिए पीछे देखना आवश्यक नहीं है? सिंहावलोकन किए बिना अतीत और वर्तमान में सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता, अहंभाव व्यक्ति को क्रूर बनाता है। क्रूरता प्रतिहिंसा को जन्म देती है। वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा फलित हो रहा है। इस रोग की चिकित्सा है मृदुता, मृदुता और एकमात्र मृदुता।

14. मार्दव : निश्चय और व्यवहार का सेतु

आत्मा को पढ़ने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है–मार्दव। जिस व्यक्ति के मन में जिज्ञासा पैदा हो जाती है, वह व्यक्ति फिर उपाय की खोज करता है। उपाय बतलाया गया कि अगर तुम आत्मा को समझना चाहते हो तो उसका उपाय है मृदुता, विनम्रता, कोमलता। मार्दव का तात्पर्य है–मद का निग्रह करना।

अहंकार : एक नशा

'मद' शब्द मादकता का प्रतीक है। मादक अवस्था में यथार्थ का बोध नहीं होता है। मादकता हमें सत्य के नजदीक नहीं ले जा सकती। एक आदमी ने नशा कर लिया, उसके लिए दुनिया दूसरी हो जाती है। अहंकार भी एक नशा है, मादकता है। अहंकार की अवस्था में आत्मा को नहीं देखा जा सकता। अभिमान के विलय से ही आत्मा को देखा और पढ़ा जा सकता है। अहंकार का विलय ही आत्म-साक्षात्कार है।

मद के प्रकार

मद के आठ प्रकार बतलाए गए हैं–एक है जाति का मद। जाति का भी अपना अहंकार होता है। वह छोटी जाति का है, यह इतना भयंकर मद है कि एक जाति के होकर भी एक व्यक्ति दूसरे को छोटा मानता है। उसमें भी बीसा, दसा, पंचा, ढाया आदि पता नहीं कितने भेद हो जाते हैं। कोई बीसा कहलाता है। दसा शायद पंचा को छोटा मानता होगा। जो पंचा है, वह ढाया को छोटेपन की दृष्टि से देखता है। एक जाति वाला दूसरी जाति को हीन मानता है और इस जातिवाद ने आत्मा के साक्षात्कार में ही नहीं समाज की व्यवस्था में भी रुकावट पैदा की है। सामाजिक सौष्ठव के आगे भी एक प्रश्न चिह्न लगा दिया है। समाज में मानो टुकड़े कर दिए हैं। जाति का अहंकार बाधक है आत्मा की पढ़ाई में। इसी प्रकार धन का भी अहंकार होता है। धनी आदमी अपने आप को बड़ा मानता है और निर्धन को छोटा मानता है। धनी व्यक्ति अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं मानता। बल का भी अहंकार होता है। बहुत लोगों को ज्ञान का

भी अहंकार हो जाता है। यह एक बड़ी विचित्र बात है। जो ज्ञान अहंकार को मिटाने के लिए है, उस ज्ञान का भी अहंकार हो जाता है। जो ज्ञान भौतिकता से जुड़ा हुआ है, वह अहंकार पैदा करता है। आत्मज्ञान के अभाव में व्यक्ति अपने आप को ज्ञानी मानकर बड़ा मानता है, दूसरे को छोटा मानता है। जहां आत्मज्ञान है, वहां कोई बड़ा छोटा नहीं माना जाता।

दो दृष्टियां : निश्चय और व्यवहार

जो मार्दव का विकास करना चाहते हैं, आत्मा को पढ़ना चाहते हैं, उनको सबसे पहले सचाई को समझना होगा। भगवान महावीर ने दो दृष्टियां बतलाई हैं। एक दृष्टि का नाम है निश्चयनय और दूसरी का नाम है व्यवहारनय। आत्मज्ञान के लिए निश्चयनय का आलंबन लेना जरूरी है। निश्चय अभेद प्रधान होता है और व्यवहारनय का आधार है भेद। व्यवहारनय स्थूल की व्याख्या करता है जबकि निश्चयनय सूक्ष्म की मीमांसा करता है। बहुत सारे भेद हो गए हैं और जहां भेद होता है वहां मलिनता होती है, झगड़े होते हैं।

निश्चयनय में कोई आत्मा हीन नहीं है, कोई उच्च नहीं है। कोई आत्मा छोटी नहीं है और कोई आत्मा बड़ी नहीं है। सब आत्माएं समान हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से जहां दो हैं वहां भिन्नता है। जहां अनेक हैं वहां न रंग रूप मिलता है, न लंबाई-चौड़ाई मिलती है। वहां कुछ भी नहीं मिलता। सबका अपना अलग-अलग रंग-रूप होता है। रचना भी अलग, जातियां भी अलग, समाज की व्यवस्थाएं भी अलग। व्यवहारनय में सर्वत्र भेद ही परिलक्षित होता है।

निश्चय में जीना सीखें

व्यवहार भी एक सचाई है, पर स्थूल सचाई है। वास्तविक सचाई, जिसे हम कहते हैं अंतिम सचाई। वह सचाई है निश्चय की। आत्मा को पढ़ने के लिए निश्चय तक पहुंचना जरूरी है। पूज्य गुरुदेव बहुत बार कहते—साधु-साध्वियों को केवल व्यवहारनय तक सीमित नहीं रहना है। उन्हें निश्चय तक भी पहुंचना है। केवल व्यवहार में ही जीएंगे, भीतर नहीं जा पाएंगे।

जो व्यक्ति समुद्र के तट पर खड़ा रहता है, उसको घास-पूस, सीपियां मिल जाती हैं। किसी को मोती पाना है तो गोता लगाना पड़ेगा। गहरे में डुबकी लगानी पड़ेगी। यह डुबकी लगाने का नय निश्चयनय है। भीतर तक जाओ और पाओ। सत्य का मुक्ता हमें भीतर में प्राप्त होगा। साधना के लिए, सचाई को पकड़ने के लिए निश्चयनय का अवलंबन लेना जरूरी है।

इसे हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। गौतम स्वामी ने पूछा–भंते! भंवरे में कितने रंग हैं? भगवान ने कहा–व्यवहारनय की दृष्टि से तो भंवरा काला है और निश्चय की दृष्टि से वह पांचो ही रंगों का है। निश्चयनय में पूरी सचाई हमारे सामने आती है जबकि व्यवहारनय में सचाई का एक स्थूल रूप सामने आता है।

असली सौंदर्य भीतर में

बहुत बार स्थूल रूप में आदमी उलझ जाता है। उसे पूरा पकड़ नहीं पाता और कभी-कभी लड़ाई-झगड़े भी हो जाते हैं। एक आदमी जा रहा था। रास्ते में एक लड़की मिली। देखा वह बहुत सुंदर है। उसने उसका रास्ता रोक लिया। लड़की ने उसके भावों को भांप लिया और कहा–देखो भैया! मेरे से ज्यादा सुंदर मेरी बहन है, वह पीछे आ रही है। युवक ने उसको छोड़ दिया और उस तक पहुंच गया, जो पीछे आ रही थी। देखा, वह तो काली-कलूटी है। सोचा–यह तो धोखा हो गया। उसने कहा–तुम्हारी बहन ने मुझे धोखा दे दिया। उसने कहा था कि मेरी बहन पीछे आ रही है, वह बहुत सुंदर है और तुम तो बिल्कुल सुंदर नहीं हो। वह बोली–तुम मूर्ख हो, तुम्हें सुंदरता की पहचान ही नहीं है। क्या कोई रंग, रूप और आकार से ही सुंदर होता है। सुंदरता देखनी है तो भीतर जाकर देखो। उसका वह वाक्य दिल को छू गया। सचमुच उसकी आंख खुल गई।

निदर्शन अहंकार-विलय के

भीतर के सौंदर्य को देखना है तो भीतर की गहराई में जाना होगा। आदमी भीतर तक नहीं जाता, बाहर जीता है, इसीलिए अहंकार को पनपने का मौका मिलता है। व्यक्ति कभी जाति के आधार पर, कभी रंग-रूप के आधार पर और कभी ज्ञान के आधार पर अपने आप को बड़ा मान लेता है। जब सचाई का बोध होता है, जब आंख खुलती है तो यह बड़प्पन-छुटपन की सारी भावनाएं और भेदरेखाएं समाप्त हो जाती हैं। महावीर ने कहा–एक व्यक्ति चक्रवर्ती के दास का भी दास है, पर वह पहले दीक्षित हो गया। उसके बाद में खुद चक्रवर्ती दीक्षित हो तो वह बिना संकोच के उसके चरणों में अपना सिर रखे। उसे वंदना और नमस्कार करे। वह यही सोचे कि यह अब दास का दास कहां रहा? अब तो यह साधु बन गया। जो व्यक्ति सचाई के प्रति जिज्ञासु है, वह अहंकार को बाहर छोड़कर भीतर प्रवेश करे। तभी वह कुछ प्राप्त कर सकेगा, अन्यथा उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।

सरदार पटेल की एक बड़ी मार्मिक घटना है। देश आजाद हुआ था और एसेंबली का गठन किया गया। उसके अध्यक्ष थे सरदार वल्लभ भाई पटेल। एक दिन वे खड़े थे। एक अंग्रेज दम्पती आया। उन्हें खादी की साधारण वेशभूषा में देख सोचा–यह कोई चपरासी है। उस दम्पती ने कहा–चपरासीजी! क्या तुम हमें लेजिस्लेटिव एसेंबली को दिखा सकते हो? उसने उनको एसेंबली भवन दिखा दिया। कहीं आभास भी नहीं होने दिया कि वे प्रेसिडेंट है। एक चपरासी की तरह एक-एक चीज को दिखा दिया। जब वह युगल जाने लगा तो उसने एक रुपया उनको दिया। उन्होंने विनम्रता से अस्वीकार कर दिया और कहा–आपने जो कहा मैंने वह काम कर दिया। यह कहकर उसने वहां से प्रस्थान कर दिया। दूसरे दिन एसेंबली में वे पति-पत्नी भी गैलरी में दर्शक के रूप में सबके बीच में बैठे थे। कुछ समय बाद वही चपरासी जब प्रेसिडेंट की कुर्सी पर आकर बैठा तो वे दोनों हतप्रभ रह गए। अरे! हमने तो इसको चपरासी समझा था और यह तो लेजिस्लेटिव एसेंबली के प्रेसिडेंट है। मन में बहुत अधिक अनुताप हुआ। अहो! हमने यह क्या किया? हमने तो अनर्थ कर दिया। यह सरदार पटेल की विनम्रता का अथवा यों कहें कि अहंकार के विलय का एक प्रेरक प्रसंग बन गया।

यह एक सचाई है कि आदमी जैसे-जैसे सादगी में जाता है, ऊपर उठ जाता है, अहंकार नीचे रह जाता है। व्यक्ति जब तक अहंकार के बोझ से दबा रहता है, चाहे कितना ही कुछ हो जाए कभी भी बड़ा आदमी नहीं बन सकता।

सफलता का सूत्र है विनम्रता

जो अच्छा और कलात्मक जीवन जीना चाहता है, उस व्यक्ति को किसी के साथ कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए, फिर चाहे वह अपना नौकर हो, कर्मचारी हो या कोई भी हो। यहां तक कि किसी पशु के प्रति भी कठोरतापूर्वक व्यवहार न करें। कठोर व्यवहार आदमी को छोटा बनाता है। अहंकार-विलय होने पर व्यक्ति का व्यवहार विनम्र हो जाता है। तेरापंथ की नींव में एक प्रस्तर रखा गया विनम्रता का। आत्मा को पाने और आत्मा को पढ़ने के लिए आचार्य भिक्षु ने पहले नींव रखी और बाद में उसका विकास किया। हमारे आचार्यों ने इस बात पर बहुत बल दिया कि अहंकार मत करो। मार्दव का प्रयोग करो। हमारे यहां गुरु के प्रति विनम्रता का व्यवहार दर्शनीय है, गुरु ने कह दिया–बैठ जाओ तो शिष्य वहीं बैठ जाता है। प्रसंग है छोटी साध्वी गुलाबांजी का, जो बाद में महासती गुलाबांजी बनी थी। जयाचार्य ने देखा–सब आ गए, पर

गुलाबांजी का पता नहीं चला कि वह कहां है? साध्वियों ने पूछा–गुरुदेव! हमने सब जगह देख लिया, पर वे कहां हैं, कुछ पता नहीं लग रहा है। तभी जयाचार्य को याद आया और उन्होंने कहा–मैंने उसे 'आले' में बैठने के लिए कहा था। वापस उठने के लिए नहीं कहा, इसलिए संभव है वह उसी 'आले' में बैठी हो। साध्वियां वहां गईं तो देखा–वह प्रतिमा वहीं विराजमान है। यह है विनम्रता।

मार्दव : मद का निग्रह

मार्दव का एक अर्थ है–**मदस्थानानां निग्रहो मार्दवम्**–मद-स्थानों का निग्रह कर लेना यानी उनको उदय में नहीं आने देना। उदय में आ जाए तो उनको फलवान न होने देना। अहंकार कभी आ गया, उसको भी निष्फल कर देना चाहिए। जब मद-स्थान छूट जाते हैं तो सारी स्थिति बदल जाती है। समाज की भूमिका पर जाकर देखें तो एक आदमी अपनी प्रशंसा कर रहा है, दूसरे की निंदा कर रहा है। एक राजनीतिक दल अपने दल की प्रशंसा कर रहा है, दूसरे की निंदा कर रहा है। इसका कारण क्या है? इसका कारण है अहंकार। अहंकार एक ऐसी मादकता है, जिसके कारण व्यक्ति को पता ही नहीं चलता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? निंदा, श्लाघा आदि के प्रसंग अहंकार के कारण ही बनते हैं।

मार्दव : मृदु व्यवहार

मार्दव का एक अर्थ है आत्म तुला की अनुभूति। सब आत्माएं समान हैं, फिर मैं किसकी निंदा करूं? यदि व्यवहार की भूमिका पर खड़े होकर विचार करें तो मैं जिसकी निंदा करता हूं, वह भी प्रमादी है, मैं भी प्रमादी हूं। भूल उससे भी हो सकती है, मुझसे भी हो सकती है। भूल का परिष्कार होना चाहिए, निंदा नहीं। परिष्कार का तरीका दूसरा है। हमें सबसे पहले दृष्टिकोण को बदलना होगा। जब दृष्टिकोण बदलता है, व्यवहार में स्वतः अंतर आ जाता है। सामान्यतया व्यक्ति दूसरे की कमी होने पर गुस्सा करता है और अपनी कमी पर नहीं करता। जब दृष्टिकोण बदलता है तो व्यक्ति दूसरे की कमी पर आक्रोश नहीं करता, अपनी कमी को भी अनदेखा नहीं करता, बल्कि उसके परिष्कार का प्रयास करता है।

जब मार्दव का विकास होता है, सारा व्यवहार बदल जाता है। मृदुता आत्मा को पढ़ने का ही नहीं, व्यवहार को भी सुंदर बनाने का, मधुर बनाने का एक सशक्त साधन है। उसी व्यक्ति का व्यवहार मधुर होता है, जो मृदु होता है।

जो मृदुता की साधना नहीं करता, उस व्यक्ति का व्यवहार कभी अच्छा नहीं हो सकता, मधुर नहीं हो सकता।

आत्मा को पढ़ने की पहली कक्षा है क्षमा। आत्मा को पढ़ने के लिए अग्रिम कक्षाओं में भी प्रवेश करना होगा। उनमें एक कक्षा होगी मार्दव। हमें इस दिशा में सोचना है। जो व्यक्ति आत्मा को पढ़ना चाहे, आत्मा का साक्षात्कार करना चाहे, उस व्यक्ति के लिए जरूरी है मृदुता का अभ्यास। हम नशा-मुक्त बनें। नशा दो प्रकार का होता है–एक भीतर का नशा और एक बाहर का नशा। भांग आदि सब बाहर के नशे हैं। ये स्नायविक विकृति पैदा करते हैं। एक भीतर का नशा है, जो हमारे मस्तिष्क को विकृत बनाता है। यह भीतर का नशा है अहंकार। वह बड़ा भंयकर नशा है। जो व्यक्ति आत्मा को जानना चाहे, आत्मा को पढ़ना चाहे, उसे बाहर की मादक वस्तु और भीतर की मादक वस्तु–दोनों से मुक्ति पाना जरूरी है। हम इस नशे की आदत को बदलें और मार्दव का अभ्यास करें। जैसे-जैसे मार्दव का अभ्यास सधेगा, आत्म-साक्षात्कार की साधना परिपक्व होती चली जाएगी।

15. अहंकार को मृदुता से जीतो

महावीर वाणी का एक सुंदर वचन है–**माणं मद्दवया जिणे**–अहंकार को मृदुता से जीतो। वर्तमान स्थिति में बहुत अपेक्षा है अहंकार विलय की। जब बड़े आदमियों में अहंकार होता है तो वह बहुत घातक बनता है। प्राचीन काल में बड़े लोग कम होते थे। आज बड़े आदमी ज्यादा हैं। आज लोकतंत्र का जमाना है, इसलिए हर व्यक्ति अधिकार की दौड़ में शामिल है।

प्राचीन काल में पूरे देश का एक राजा होता, कुछ अधिकारी होते और बहुत कम लोग बड़े होते। सामान्य धनवान तो बहुत होते, पर बहुत बड़े धनी कम होते थे। आजकल धन भी बहुत बढ़ गया है। सत्ता का भी इतना विस्तार हो गया है कि बड़े लोगों की, अधिकारियों की हिन्दुस्तान में पूरी फौज है। आज लोग बड़े तो बन गए, पर बड़े बनने के बाद जो बड़प्पन होना चाहिए, उसकी बड़ी कमी अनुभव होती है। बड़ा आदमी कौन होता है? बड़ा आदमी वह होता है, जो विनम्र होता है। बड़ा आदमी वह होता है, जो प्रतिक्रिया से मुक्त होता है। आज तो ऐसा लगता है कि बड़े लोगों का व्यवहार प्रतिक्रिया से ज्यादा संचालित हो रहा है। प्रतिक्रिया इतनी कि उसने मेरे साथ ऐसा किया है, अब मुझे भी बदला लेना है। एक समय था जब छोटे लोगों में प्रतिक्रिया की बात देखी जाती थी, लेकिन आज इस विषय में बड़े लोग भी पीछे नहीं हैं।

प्रतिक्रिया-विरत कौन होता है?

आजकल क्रिया कम होती है, प्रतिक्रिया ज्यादा। व्याकरण की दृष्टि से देखें तो कर्त्ता वह होता है, जो स्वतंत्र होता है। जो प्रतिक्रिया से संचालित नहीं होता। वह केवल क्रिया करता है। हम दो शब्दों पर ध्यान दें। एक क्रिया और एक प्रतिक्रिया। एक आदमी चाहे अच्छी करे, बुरी करे, पहले वह क्रिया ही होती है। क्रिया के प्रतिपक्ष में प्रतिक्रिया का स्वर मुखर होता है। एक आदमी ने किसी को गाली दी, दूसरा भी गाली देने लगा। पूछा गया–भाई! तुमने गाली क्यों दी? पहले उसने दी, इसलिए मैंने भी दे दी। उसने दी, वह उसकी क्रिया हो

सकती है, पर उसने दी, इसलिए तुमने गाली दी, यह तुम्हारी प्रतिक्रिया हो गई। आज यह प्रतिक्रिया बहुत चलती है। किसी से पूछा जाए–तुमने यह कलह क्यों किया? अपशब्द का प्रयोग क्यों किया? उत्तर मिलेगा–मैंने नहीं किया, उसने किया, इसलिए मुझे करना पड़ा। 'करना पड़ा'–यह प्रतिक्रियात्मक क्रिया बन जाती है। यह प्रतिक्रिया, बदले की भावना, प्रतिशोध की भावना बहुत खतरनाक होती है। वहां आदमी का विवेक काम करना बंद कर देता है। जब प्रतिक्रिया की चेतना जागती है तो विवेक की चेतना सो जाती है। अन्यथा कोई बड़ा आदमी, समझदार आदमी कभी भी प्रतिक्रियात्मक व्यवहार करना नहीं चाहेगा।

खतरनाक है सीधा बड़ा बनना

जो व्यक्ति ऊंचाई पर जाना चाहता है, ऊपर उठना चाहता है, उसे बहुत गंभीर होना चाहिए। गंभीर व्यक्ति हमेशा सहिष्णु होगा। वह बड़ी से बड़ी कठिनाई को सहन कर लेगा। कभी-कभी ऐसा लगता है कि राजनीति के साथ सहिष्णुता शब्द का कोई मेल नहीं है। जो बड़े-बड़े लोग कहलाते हैं, उनमें भी सहिष्णुता बहुत कम है, वे सहन करना नहीं जानते। एक दूसरे को सहन करने की शक्ति नहीं है। सहिष्णुता के बिना प्रगति नहीं हो सकती, विकास नहीं हो सकता। इससे सहिष्णुता के विकास में बहुत बाधा आती है।

चीन और हिन्दुस्तान दोनों लगभग एक साथ स्वतंत्र हुए। आज कोई चीन में जाकर देखे और हिन्दुस्तान को भी देखे तो ऐसा लगेगा कि विकास की यात्रा में दिन-रात का अंतर है, यह क्यों? इसका कारण क्या है? कारण स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में व्यक्तित्व-निर्माण की ओर ध्यान कम दिया गया है। बड़े व्यक्तियों का भी निर्माण होना चाहिए। बड़ा बनने में बहुत साधना करनी होती है। बड़े स्थान तक पहुंचना है तो बड़ी तपस्या करनी होगी। बड़प्पन का विकास बहुत श्रम साध्य होता है। कवि की कल्पना है–एक 'बड़ा' शब्द बड़प्पन से जुड़ा है। 'बड़ा' एक खाद्य पदार्थ का भी नाम है। एक बार किसी ने बड़े से कहा–'तुम तो बड़े बन गए।' उसने कहा–ऐसे नहीं बना हूं। पहले पीसा गया, फिर रोंदा गया, सुई में पिरोया गया, फिर तला गया तब कहीं जाकर बड़ा बना हूं। सीधा बड़ा नहीं बना हूं। बड़ा बनने की प्रक्रिया कष्ट सहन करने की प्रक्रिया है। कवि ने कहा–**पहले थे हम नर, फिर नार कहाए।** पहले था चना, चना से बनी दाल यानी पहले पुरुष था, स्त्री बनना पड़ा। फिर नदी में स्नान किया, फिर बर्छी के प्रहार को सहा। इस सारी प्रक्रिया से गुजरे तब हम बड़े बने, सीधे नहीं बने। आज तो व्यक्ति सीधा बड़ा बन जाता है। बिना प्रक्रिया और बिना प्रशिक्षण के सीधा बड़ा बनना बहुत खतरनाक होता है।

सही नायक का चयन हो

एक प्रक्रिया से गुजरकर व्यक्ति ऊपर तक पहुंचे तो मानना चाहिए कि उसने साधना की है। लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री बने। वे पहले प्रक्रिया से गुजरे। एक समय था जब उनके पास पढ़ने के लिए कुछ नहीं था। नौका के लिए भी देने को पास में पैसा नहीं था। नदी पैरों से पार कर जैसे-तैसे जाते। अध्ययन करके अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया। इस स्थिति से गुजरकर वे प्रधानमंत्री के पद तक पहुंचे। माना जा सकता है कि वास्तव में प्रक्रिया से गुजर कर बड़े आदमी बने। आज तो सीधे बड़े बन जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि बड़े लोग तो आकाश से उतरते हैं, न कष्ट सहन करते, न कोई गुणों का विकास करते, न योग्यता पर ध्यान देते और सीधे बड़े बन जाते हैं। यह खतरनाक स्थिति है। आज जरूरत है कि बड़प्पन के कुछ मानदंड होने चाहिए, बड़े पद के लिए भी एक विशेष योग्यता का अर्जन होना चाहिए।

गुरुदेव तुलसी दिल्ली में विराज रहे थे। मोरारजी भाई प्रधानमंत्री थे। एक दिन अटलजी, आडवाणीजी, मोरारजी आदि गुरुदेव के पास आए और आग्रह किया कि लोकसभा में जो नया कक्ष बना है उसमें आपका प्रवचन हो। गुरुदेव पधारे, प्रवचन हुआ। वहां बहुत लोग उपस्थित थे। लोकसभा के सदस्यों के समक्ष गुरुदेव ने एक बात कही और वह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। गुरुदेव ने कहा–आश्चर्य होता है कि कोई भी व्यक्ति सरकारी सर्विस में जाता है तो उसके लिए कोई मानदंड होता है, सीधा नहीं जाता। कोई सीधा कलेक्टर नहीं बनता, कोई सीधा एस.पी. नहीं बनता, सबको परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है। व्यक्ति परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद उस स्थान तक पहुंचता है, किंतु विधानसभा और लोकसभा का स्थान ऐसा है जहां योग्यता की कोई जरूरत नहीं है। प्रशिक्षण की जरूरत नहीं, विशेष दक्षता की भी कोई आवश्यकता नहीं। सीधा आता है और इतने बड़े राष्ट्र के भाग्य की बागडोर को अपने हाथ में थाम लेता है। नेतृत्व की योग्यता नहीं है तो क्या होगा उस देश का?

एक नेता के लिए जरूरी है बौद्धिकता का विकास, चरित्र का विकास, धीरता और गंभीरता का विकास। प्राकृत साहित्य में बतलाया गया है कि नायक 'धीरोदात्त' अर्थात धीर और उदात्त होना चाहिए। पराक्रमी होना चाहिए, समझदार होना चाहिए, सहिष्णु होना चाहिए। अगर ये बातें न हों और बड़ा बन जाए, बड़ा अधिकार हाथ में आ जाए, फिर अनर्थ न हो तो आश्चर्य है, हो तो कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए। गुणों का विकास बहुत आवश्यक है। गुणवत्ता में भी अहंकार-विलय का गुण होना आज की बहुत बड़ी अपेक्षा है, बहुत बड़ी आवश्यकता है।

स्वास्थ्य और भाव

हम अहंकार पर विजय कैसे पाएं? प्राचीनकाल में हमारे पूर्वज कहते थे कि क्रोध मत करो, अहंकार मत करो, उससे पाप कर्म का बंध होगा। गांवों में मान्यता थी कि अहंकार करोगे तो नरक में चले जाओगे। आज ये बातें केवल धर्म की बातें नहीं रहीं। आज ये बातें स्वास्थ्य के साथ जुड़ गई हैं। आज तो यह सचाई सामने आ चुकी है कि क्रोध करने से स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा। अहंकार करने से स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा।

हमारी सारी बीमारियां शरीर की बीमारियां नहीं होती, बहुत सारी बीमारियां भावनात्मक बीमारियां होती हैं। एक प्रकार का भाव आया और अचानक बीमारी शरीर में पैदा हो जाएगी। लोग कहते हैं क्या हुआ? अचानक क्या हो गया? निदान कराया जाता है तो निदान के जितने यंत्र हैं, वे कहते हैं–कोई बीमारी नहीं है, लेकिन व्यक्ति को बीमारी का अनुभव होता है। भावनात्मक बीमारी यंत्रों की पकड़ में नहीं आती। आज अगर हम साइंस की दृष्टि से देखें तो हमें पता चलेगा कि जितनी बीमारियां होती हैं उनमें से लगभग 70% बीमारियां भावनात्मक होती हैं। कैंसर कोई शरीर की बीमारी नहीं है, पेप्टिक अल्सर कोई शरीर की बीमारी नहीं है और हार्ट अटैक भी एक प्रकार से शरीर की बीमारी नहीं है। ये सब बड़ी-बड़ी बीमारियां हमारी भावनाओं के कारण पैदा होती हैं।

चक्रवर्ती सनत्कुमार का शरीर रोगी बन गया, थूक में भी कीड़े कुलबुलाने लगे। सोचा–अब क्या करूं? घर छोड़ा, मुनि बन साधना में लीन हो गए। साधना में लगे काफी समय हो गया। वृद्ध के रूप में देवता आया। नमस्कार किया और बोला–महाराज! कैसे हो? उत्तर दिया–बिल्कुल ठीक हूं। पूछा–महाराज! आपके शरीर में तो रोग दिखाई दे रहा है। आप ठीक कहां है? आप मुझे आज्ञा दें, मैं आपको अभी ठीक कर दूंगा। महाराज! मैं वृद्ध नहीं हूं, मुझे वृद्ध मत मानना। मैं कोई आदमी भी नहीं हूं। मैं देवता हूं, देवलोक से आया था आपकी परीक्षा करने, अब वापिस आया हूं, आप मुझे आज्ञा दें, सेवा का मौका दें, मैं आपको ठीक कर दूंगा। चक्रवर्ती मुनि सनत्कुमार बोले–देव! तुम क्या ठीक करोगे? मैं अपनी आत्मा में हूं, साधना कर रहा हूं। मैं स्वयं की चिकित्सा स्वयं कर सकता हूं, ऐसा कहकर चक्रवर्ती ने मुंह में अंगुली डाली, थूक निकाला और शरीर पर छींटे दिए। आश्चर्य! सारा शरीर स्वर्णमय बन गया। मुनि एकदम निरोग बन गए। यह शक्ति कहां से आई? यह शक्ति पैदा हुई अहंकार-विलय के द्वारा। एक समय था जब प्रबल अहंकार के कारण

शरीर में सोलह प्रकार के रोग पैदा हो गए। जब अहंकार को छोड़ा, मार्दव की साधना की, विनम्रता की साधना की, अहंकार-विलय की साधना की तो उससे एक लब्धि पैदा हो गई, जिसका नाम है 'खेलोसही'। थूक में भी शक्ति आ गई। पसीने में इतनी शक्ति आ जाती है कि पसीने पर हवा लगकर यदि वह हवा दूसरे को लग जाए तो वह भी ठीक हो जाता है। एक अहंकार का पक्ष है, अहंकार के कारण शरीर कितना विकृत बन गया और एक अहंकार-विलय का पक्ष है, अहंकार-विलय हुआ कि शरीर कंचन बन गया।

वशीकरण मंत्र : विनम्रता

अहंकार के साथ क्रोध का भी गहरा संबंध है। जिसमें अहंकार ज्यादा है, उसको गुस्सा ज्यादा आएगा। अहंकार कम है, उसको गुस्सा नहीं आएगा। जीवन में यदि विनम्रता आ जाए तो मैं मानता हूं कि दुनिया में इससे बड़ा कोई वशीकरण मंत्र नहीं है। बहुत बड़ा वशीकरण मंत्र है अहंकार का विलय। जिस व्यक्ति ने विनम्रता का पाठ पढ़ लिया, वह व्यक्ति वास्तव में सुखी बन गया। उसे कोई दुःखी नहीं बना सकता।

अहंकार : दुःख का कारण

अहंकारी व्यक्ति को कोई भी दुःखी बना सकता है। एक शब्द कहो, दुःखी बन जाएगा। लड़की बहू बनकर ससुराल गई। अहंकार बहुत प्रबल था कि मैं बड़े सेठ की लड़की हूं। मुझे कोई अप्रिय बात कैसे कह सकता है? इस अहंकार के कारण दिन भर लड़ाई-झगड़ा चलता रहता। दिन भर की कलह से वह इतनी दुःखी बन गई कि एक बार तो पिता के घर आ गई। पिता ने सारी स्थिति को देखा और एक मंत्र बताया–बेटी! ऐसा करना, कोई कुछ भी कहे, णमोक्कार का पाठ पढ़ना, हाथ जोड़ लेना, कुछ भी बोलना मत। कुछ दिन बाद जब ससुराल गई तो पिता के कहे अनुसार व्यवहार किया, सारा वातावरण बदल गया। वातावरण को बिगाड़ना हमारे हाथ में है और वातावरण को सुधारना भी हमारे हाथ में है। हम निश्चित मान लें कि जितना अहंकार होगा, उतनी ही लड़ाइयां होंगी, उतने ही झगड़े, कलह, कदाग्रह होंगे और उतना ही क्रोध बढ़ता चला जाएगा। जितनी विनम्रता होगी, उतनी ही शांति होती चली जाएगी।

आचार्य भिक्षु ने कहा–संघ को अच्छा चलाना है तो विनम्रता का विकास करो। आचार्य भिक्षु ने विनम्रता का प्रशिक्षण दिया और एक ग्रंथ लिख दिया–**विनीत अविनीत की चौपई।** एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मैं मानता हूं कि इस विनम्रता के प्रशिक्षण के कारण ही तेरापंथ ने आज तक इतना विकास

किया है। जब तक यह विनम्रता का गुण रहेगा, यह संघ आगे भी विकास करता चला जाएगा। आचार्य भिक्षु से पूछा गया–तेरापंथ कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु ने कोई तिथि या तारीख नहीं बताई, कोई भविष्यवाणी नहीं की–दस वर्ष, बीस वर्ष, सौ वर्ष, हजार वर्ष। आचार्य भिक्षु ने कहा–जब तक नीति-निष्ठा, आचार-निष्ठा, सहिष्णुता और विनम्रता जैसे गुण रहेंगे, तब तक तेरापंथ चलता रहेगा। खेतसीजी स्वामी का उदाहरण प्रसिद्ध है। उन्होंने विनय का कितना विकास किया था। वे इतने विनम्र थे कि स्वयं आचार्य भिक्षु को साधुओं से कहना पड़ा कि देखो साधुओ! ध्यान रखना, तुम खेतसीजी को जाकर कहो कि आचार्य भिक्षु बुला रहे हैं तो पहले देख लेना कि उनके हाथ में पात्री तो नहीं है। जब तुम कहोगे कि आचार्य भिक्षु याद कर रहे हैं तो हाथ में यदि पात्री है तो वह गिर जाएगी और उनके हाथ जुड़ जाएंगे।

आचार्य भिक्षु ने ऐसे व्यक्तित्वों का निर्माण किया था। उन्होंने विनय की मूर्तियों का निर्माण किया था। प्रगति के द्वार अपने आप खुल गए। विकास के रास्ते अपने आप बन गए। अगर अहंकार होता तो ऐसा नहीं होता। अहंकार होता तो सबमें गुरु बनने की भावना जाग जाती, सबके मन में आचार्य बनने की भावना जाग जाती। मुझे तो आश्चर्य होता है कि आज जैन समाज में आचार्यों की बाढ़-सी आ रही है। अतीत में ऐसा नहीं था। आज तो सैकड़ों-सैकड़ों आचार्य हैं। कारण यही है कि विनम्रता का पाठ नहीं पढ़ाया गया। विनम्रता का पाठ नहीं है तो फिर विकास भी नहीं होता। एक बहुत बड़ी सचाई है, जिसे हमें स्वीकार करना होगा। मेरा मानना है कि आज यदि पूरे जैन समाज में इस विनम्रता का विकास होता, अनुशासन को मानने की क्षमता होती तो आज जैन शासन बहुत शक्तिशाली बन जाता और दुनिया के लिए बहुत कल्याणकारी बन जाता, पर ऐसा नहीं हो रहा है। हमारा तो सौभाग्य है कि ऐसा पथदर्शक मिला, जिसने ऐसा निर्बाध रास्ता बताया। हम उस रास्ते पर चलते रहें। हमारे विकास में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। यह निश्चित है कि अहंकार-विलय के बिना, अहंकार को जीते बिना विकास की संभावना नहीं की जा सकती। मैं चाहता हूं कि आज के बड़े कहलाने वाले लोग, बड़े पदों पर कार्य करने वाले लोग, बड़े-बड़े स्थानों पर जाने वाले लोग, बड़े-बड़े उद्योगपति और धनपति एक बात को जरूर सीख लें कि अहंकार का विलय करना है। जीवन में अहंकार से जितना मुक्त रहेंगे, विनम्रता उतनी ही बढ़ती चली जाएगी, मृदुता का ग्राफ उतना ही ऊंचा उठेगा। जीवन की सफलता का सूत्र यही है कि हम मृदु बनें, मृदुता से अहंकार को जीतें। आध्यात्मिक विकास और सर्वांगीण व्यक्तित्व-विकास की पृष्ठभूमि का निर्माण अपने आप होगा।

16. मृदुता बनाम कोमलता

दो विद्यार्थी आपस में बात कर रहे थे। एक ने पूछा–बताओ, दिल्ली दूर है या चांद दूर है? दूसरा बोला–दिल्ली दूर है। उसने कहा–इसका कारण क्या है? कारण तो साफ है कि चांद तो दिखाई देता है, दिल्ली दिखाई नहीं देती, इसलिए दिल्ली दूर है। जो दिखाई दे, वह निकट हो जाता है। जो दिखाई न दे, वह दूर हो जाता है। हम इस रूपक को एक सचाई के साथ जोड़ें कि मृदुता अच्छी है या अहंकार अच्छा है? कोमलता अच्छी है या कठोरता अच्छी है? दोनों में से अच्छी कौन? बहुत लोगों की धारणा है कि कठोरता अच्छी है। कठोरता से कोई बात कहते हैं तो काम जल्दी हो जाता है और मृदुता से कहते हैं तो काम जल्दी नहीं होता। प्रशासन के लोग प्रायः यही मानते हैं कि हम क्रोध के आवेश में, अहंकार की भाषा में कहें तो कर्मचारी मान लेते हैं। धैर्य और मधुरता से बात कहें तो वे मानते भी नहीं हैं। हो सकता है उनका अपना अनुभव हो, किंतु व्यापक अनुभव यही है कि मृदुता, कोमलता और मिठास के साथ कही जाने वाली बात गले उतर जाती है। कठोरता से कही जाने वाली बात प्रतिक्रिया पैदा कर बाहर ही रह जाती है।

व्यवहार कठोर न हो

हम केवल प्रवृत्ति पर नहीं, परिणाम पर भी विचार करें। एक बार कठोर व्यवहार किया और सामने वाले ने मान लिया। विवशता है, अधीनता है तो वह मान भी लेता है। कुछ समय बाद वापस उसकी प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया विचित्र होती है। कभी कटु शब्दों में व्यक्त होती है तो कभी-कभी प्राणलेवा भी बन जाती है। अनेक अधीनस्थ व्यक्तियों ने अपने बॉस की हत्या कर डाली। प्रतिक्रियात्मक हिंसा के कारण यह कठोर प्रयोग किया। वह कठोर शब्द सहन नहीं कर सका और प्रतिक्रिया में अपने मालिक को या बॉस को ही समाप्त कर दिया। हम परिणाम पर विचार करें। एक बार आचार्य तुलसी के पास साधु-साध्वियों की गोष्ठी थी। गोष्ठी में यह प्रसंग आया कि एक तो

उलाहना देने की धारणा है और एक समझाने की धारणा है। एक कठोर व्यवहार की धारणा है और एक मृदु व्यवहार की धारणा है। गुरुदेव ने कहा–मेरा अनुभव यह है कि जो बात मृदुता से, कोमलता से, मिठास से कही जाती है, वह बात तो मान्य हो जाती है। जो बात कठोरता से कही जाती है, वह मान्य नहीं होती बल्कि प्रतिक्रिया पैदा करती है। गुरुदेव ने कहा–प्रायः सभी कड़ाई से बात को कहना पसंद करते हैं। कोमलता का अभ्यास कम है। उसका अभ्यास होना बहुत जरूरी है।

प्रायोगिक अभ्यास हो

मृदु भाषा विनम्रता का बहुत बड़ा सूत्र है। हमारी वाणी में मृदुता हो, यह शिष्टता भी है, शालीनता भी है और कहने के तरीके का विकास भी है। साठ-सत्तर वर्ष पहले की बात है। जोधपुर के लोग लड़ते समय भी ओछी जबान नहीं बोलते थे। लड़ाई तो हो रही है, पर यह नहीं कहते कि तू मूर्ख है, गधा है। उस समय भी शालीन और ऊंची भाषा में बोलते। जहां भाषा शालीन होती है, वहां आवेश थोड़ा कम हो जाता है, आवेश को उद्दीप्त होने का मौका नहीं मिलता। कड़वी जबान आएगी तो वह आग में घी डालने वाली होगी। आग और भड़क उठेगी। मृदुता का प्रयोग आग में पानी डालने का काम करता है। इससे आग शांत हो जाती है। प्रारंभ में अभ्यास करें तो पहला प्रयोग है वाचिक विनम्रता का। इसमें संकल्प का प्रयोग बहुत काम देता है। क्रमिक अभ्यास करें कि मैं एक महीने तक कोई भी कटु वचन का प्रयोग नहीं करूंगा। एक संकल्प हो गया। संकल्प है तो उसके साथ जागरूकता भी बढ़ती है, सावधानी भी बढ़ती है। वह सजग रहता है कि मेरे मुंह से कोई भी कटु शब्द न निकले। अगर एक महीने का अभ्यास सध गया तो फिर दो महीने का, चार महीने का, एक वर्ष का अभ्यास करें। एक वर्ष तक जिसने अभ्यास कर लिया तो फिर वह उसके जीवन का व्रत बन जाएगा।

मृदुता से कार्यसिद्धि

पहले हम संकल्प का प्रयोग करें और उसके साथ कुछ साहित्य भी पढ़ें कि मृदुता के द्वारा कैसे कार्य सिद्ध होता है। किसी के पास सर्विस करना है और जाकर अकड़न में बोलेगा तो मालिक पहले ही दिन छुट्टी कर देगा, वह नौकरी देगा ही नहीं। वही बात मृदुता से कही जाए तो जरूरत नहीं है, फिर भी उसको रख लेता है। पुराने जमाने की बात है। एक बड़ा धनी सेठ था। उसके पास एक राजपूत ठाकुर साहब आए। नौकरी की जरूरत थी। सेठ ने पूछा–क्यों

आए हो? मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूं। बड़ी मधुरता के साथ प्रार्थना की। सेठ उनकी वाणी की मधुरता से मुग्ध हो गया और उन्हें रख लिया। उसे आदमी की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी रख लिया। उसने पूछा–सेठजी! क्या काम करूं? सेठ बोला–ठाकुर साहब! कोई खास काम नहीं है। आप मुझे पानी पिला दिया करें। काम सौंप दिया। राजपूत भाई का व्यवहार भी मधुर और वाणी भी इतनी मधुर थी कि सेठ निरंतर उसे अपने साथ रखता।

एक बार सेठ यात्रा पर जा रहा था। साथ में ठाकुर साहब भी थे। पुराने लोग जब यात्रा पर जाते तो पानी की झारी रखते थे। रास्ते में पानी पूरा हो गया। गर्मी का मौसम था। पानी की जरूरत थी। ठाकुर साहब ने कहा–सेठजी! मैं गांव में जाकर आता हूं। पानी की जरूरत है और कुआं सामने दिखाई दे रहा है। मैं जाकर अभी ले आऊंगा। वह कुएं के पास जा रहा था। लोगों ने कहा–अरे! कहां जा रहे हो? ठाकुर ने कहा–पानी लेने जा रहा हूं। लोगों ने सावधान करते हुए कहा–भूल कर भी मत जाना। इस कुएं पर जो भी गया, वह वापस नहीं आया। यहां तो मृत्यु निश्चित है। तुम वहां मत जाओ। उसने कहा–अभी मुझे पानी की जरूरत है। मैं राजपूत हूं, डरता नहीं हूं। मौत आएगी तो देखूंगा, सामना करूंगा।

ठाकुर मनाही करते-करते भी वहां चला गया। कुएं से पानी निकाला, इतने में ही एक प्रेत आत्मा सामने आकर खड़ी हो गई। वह बोली–पानी ले जाने से पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। तभी तुम जा सकते हो। मेरे दो प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है–मैं कैसा लग रहा हूं? ठाकुर साहब ने कहा–देव! जैसे इन्द्र अपने आसन पर सुशोभित होता है, आप भी अपने आसन पर बैठे वैसे ही लग रहे हो। देवता प्रसन्न हो गया। दूसरा प्रश्न था–मेरे हाथ में हड्डियों का शस्त्र है, यह कैसे लग रहा है? ठाकुर बोला–जैसे इन्द्र के हाथ में अपना वज्र लगता है, वैसे ही आपका शस्त्र आपके हाथ में लग रहा है। उस प्रेतात्मा ने दोनों प्रश्नों के उत्तर सुने और खुश हो गया। बोला–तुम पानी ले जा सकते हो। मैं तुम्हारी मधुर वाणी पर इतना मुग्ध हूं कि मैं तुम्हें कोई वरदान देना चाहता हूं। तुम जो चाहो मांगो। ठाकुर बोला–दिव्य आत्मन! मुझे कोई जरूरत नहीं है, मैं तो एक ही वरदान मांगना चाहता हूं कि यहां लोग पानी लेने आते हैं और आप उन्हें मार देते हैं। इस कार्य को बंद कर दो। वह बोला–तुम जानते नहीं हो कि मैं क्यों मारता हूं? मैं दो प्रश्न पूछता हूं। मैं कैसा लगता हूं? आनेवाला बोलता है कि चुड़ैल जैसे और भद्दे लग रहे हो और मेरे हाथ में हड्डियों का भद्दा शस्त्र है। ऐसा उत्तर मिलता है तो मैं उसकी हत्या कर देता हूं। ठाकुर साहब ने कहा–दिव्य

आत्मन! आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो मैं यही वरदान मांगता हूं कि अब कोई भी कुएं पर पानी लेने आए, आप उसे दर्शन मत दो। बात समाप्त हो गई। वह वापस आया तो गांववालों ने कहा–अरे! वहां जाकर कैसे आ गया? उसने कहा–तुम अपने अज्ञान से मरते हो। तुम कटुवचन का प्रयोग करते हो, इसलिए मरते हो। अगर मधुर बोलना सीख जाओ तो मरने की कोई जरूरत ही नहीं है। सारी बात सुनाई और कहा–अब निश्चिंत रहो। तुम पानी भरकर ला सकते हो। तुम्हें वह देवता दर्शन ही नहीं देगा, न ही कुछ पूछेगा और न तुम्हारी हत्या करेगा।

वाणी : एक जादू

वाणी एक ऐसा जादू है, जो सबको अपना बना लेता है। वशीकरण मंत्र से भी ज्यादा शक्ति वाणी में है। जिसके पास यह शक्ति होती है, वह सबको अपने वश में कर लेता है। हम वाचिक मृदुता का अभ्यास करें। उसका पहला प्रयोग होगा–मधुर बोलने का अभ्यास। एक अभ्यास तो यह होता है कि कोई सामने आकर कोई कड़वी बात कहे तो एक की जगह दो सुनाना। बहुत लोगों की यह गलत धारणा होती है कि कोई एक बात कहेगा तो मैं ऐसी दो सुनाऊंगा, फिर मुझे कभी नहीं कहेगा। इस गलत धारणा के कारण संबंध कटु हो जाते हैं। फिर कहने की बात ही नहीं रहेगी, संबंध ही समाप्त हो जाएगा। इस धारणा को बदलें। सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करें कि एक व्यक्ति कटु वचन कहता है तो मैं मधुरता का प्रयोग करूंगा, यह दृढ़ निश्चय हो तो सामने वाला कब तक कहेगा? एक दिन कहेगा, दो दिन कहेगा, बाद में वह भी नहीं कहेगा। संस्कृत का एक बड़ा अनुभूत वाक्य है।

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।

अग्नि की चिनगारियां जब घास पर जाकर पड़ती हैं तो आग भभक उठती है और बालू रेत पर जाकर पड़ती हैं तो अपने आप बुझ जाती हैं, स्वयं उपशांत हो जाती हैं। दो व्यक्तियों में कलह हो रहा है। दो में से एक व्यक्ति मधुरता का प्रयोग करने वाला हो तो फिर वह आग भभकेगी नहीं, अपने आप शांत हो जाएगी। फिर अपने आप वातावरण भी बदल जाएगा। घर का एक भी सदस्य कटु बोलता है तो सारा वातावरण गरमा जाता है। वही व्यक्ति जब मधुर बोलना सीख लेता है तो सारे घर का वातावरण बदल जाता है। अपना व्यवहार अच्छा नहीं होता तो सब खराब लगते हैं और जब अपना व्यवहार उपशांत हो जाता है तो सब अच्छे लगने लग जाते हैं। हम संकल्प का प्रयोग करें। संकल्प का प्रयोग एक सुंदर प्रयोग है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग

परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है, अनुप्रेक्षा से बहुत परिवर्तन होता है। यह आगम से भी सिद्ध है। अनुप्रेक्षा के बारे में उत्तराध्ययन में बतलाया गया है–

तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ करेंति।

जो कर्म उदय में आने वाला है, चाहे क्रोध का, अहंकार का, भय का अथवा और भी कोई कर्म उदय में आने वाला है और उसका विपाक तीव्र है, यदि अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाए तो उसका विपाक मंद हो जाएगा। अहंकार का तीव्र उदय है तो उस समय व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है कि दूसरों में प्रतिक्रिया पैदा कर देता है और वह दूसरों के लिए अप्रिय भी बन जाता है। विनम्रता की, मधुरता की और मृदुता की अनुप्रेक्षा की और अनुप्रेक्षा करते-करते जो तीव्र उदय में आने वाला कर्म था उसको मंद बना दिया। कर्म का तीव्र उदय समस्या पैदा करता है और विपाक मंद होता है तो कर्म उदय में आता है, चला जाता है, कोई समस्या पैदा नहीं करता। प्रदेशोदय में कर्म आते रहते हैं, पर कोई समस्या पैदा नहीं करते। हमें सीखना यह है कि हम तीव्र को मंद कैसे करें? चाहे क्रोध तीव्र है, अहंकार तीव्र है, माया-कपट का भाव तीव्र है, लोभ तीव्र है–ये सब समस्या पैदा करने वाले हैं और व्यवहार को भी कटु बनाने वाले हैं। यदि हम इनको अनुप्रेक्षा के द्वारा मंद बना देते हैं तो इनकी तीव्रता नष्ट हो सकती है।

कोई भी आदमी सीधा करेला नहीं खा सकता, पर कड़वाहट को कम कर दिया जाए तो अच्छी तरह खा सकता है। इसी तरह यदि कोई पारद को सीधा खा जाए तो मौत हो जाती है, क्योंकि पारद जहर है। पारद का भी जब शोधन कर दिया जाता है तो पारद अमृत बन जाता है। आयुर्वेद में तो पारद का बड़ा महत्त्व है। सारे रसायन पारद के आधार पर बनते हैं। पारद जिलाने वाला है, चिरायु बनाने वाला है, शक्ति देने वाला है, पर कब, जब पारद का शोधन हो जाए। क्या हम ऐसा कर सकते हैं कि क्रोध का भी शोधन कर लें, जिससे क्रोध की तीव्रता समाप्त हो जाए। अहंकार का भी शोधन कर लें, जिससे उसकी तीव्रता समाप्त हो जाए। फिर अपने आप विनम्रता का विकास होगा। उसके शोधन के लिए एक सबसे बड़ा शक्तिशाली उपाय है, विनम्रता और मृदुता की अनुप्रेक्षा।

विशुद्धिकेन्द्र पर ध्यान

मृदुता के विकास का दूसरा उपाय है विशुद्धिकेन्द्र पर ध्यान। हमारा कंठ बहुत महत्त्वपूर्ण है। गले में बहुत सारी शक्तियां होती हैं। गले में एक

चैतन्य केन्द्र है, जिसका नाम है विशुद्धि केन्द्र। यह कषाय की या आवेश की उत्तेजना को कम करने वाला है। यहां चयापचय की क्रिया होती है। इसका मन के साथ भी बहुत गहरा संबंध है। विशुद्धि केन्द्र पर संकल्पपूर्वक ध्यान करके हम अहंकार को शांत कर सकते हैं, उसकी तीव्रता को कम कर सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि ध्यान का प्रयोग करने वाले पहले ध्यान की विधि को जानें। हम जब कोई ध्यान करें तो दो काम पहले करें। एक तो लक्ष्य का निर्धारण करें। यदि लक्ष्य का निर्धारण किए बिना ध्यान करेंगे तो ध्यान की ऊर्जा बिखर जाएगी, केन्द्रित नहीं होगी। मैं चित्त की शुद्धि के लिए ध्यान कर रहा हूं। मैं क्रोध की तीव्रता को कम करने के लिए ध्यान कर रहा हूं, इस लक्ष्य के साथ ध्यान का प्रयोग किया जाएगा तो ध्यान की सारी शक्ति उसमें लग जाएगी। कोई भी संकल्प नहीं लिया, सीधे ध्यान में बैठ गए तो ऊर्जा को जाने का कोई रास्ता नहीं मिलेगा, सारी ऊर्जा बिखर जाएगी और समस्या पैदा कर देगी।

लक्ष्य के प्रति जागरूकता

एक सिंचाई करने वाला व्यक्ति लक्ष्य बनाता है कि इतने किलोमीटर तक खेतों की सिंचाई करनी है तो उसके आधार पर वह नालियां, नहर, छोटी प्रणालियां बनाता है। कोई उद्देश्य नहीं बनाया और ऐसे ही पानी छोड़ दिया। वह पानी उपयोगिता की जगह समस्या पैदा करने वाला हो जाएगा। दूसरी बात है जो लक्ष्य बनाया उसके प्रति जागरूकता हो। लक्ष्य तो बना लिया, पर जागरूकता नहीं है, ध्यान इधर-उधर जा रहा है तो भी पूरा काम नहीं होगा।

एक किसान खेत में बैठा ट्रांजिस्टर सुन रहा था। घंटा भर सुनता रहा, आंख भी नहीं खोली, फिर आंख खोली तो देखा कि खेत की नालियां टूट गईं, पानी चारों तरफ बिखर गया। गुस्से में आ गया। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जो सामने होता है, उस पर गुस्सा निकलता है। मुंबई में एक पुलिस अधिकारी ने एक बार बताया था कि दिन भर ड्यूटी पर रहते हैं, तनाव आता है, गुस्सा भी भर जाता है और वह निकलता कहां है? घर जाते हैं तो स्त्रियों पर निकलता है या सामने कोई होता है उस पर गुस्सा निकलता है। किसान ने भी हाथ में लाठी ली और ट्रांजिस्टर को पीटना शुरू किया। बोला–बेवकूफ कहीं का, दुनिया भर की तो बातें बताता है और मेरी नालियां टूट गईं, तूने मुझे बताया ही नहीं।

जब लक्ष्य के प्रति जागरूकता नहीं रहती है तो फिर गुस्सा आता है। वह दूसरे पर निकलता है। लक्ष्य का निर्धारण हो और लक्ष्य के प्रति जागरूकता हो। उससे अगला काम है प्रणालिकाएं बनाएं। कहां सिंचाई करनी है? किसको

कम करना है? किसकी तीव्रता को मिटाना है? यह निश्चित करें। अहंकार की तीव्रता को मिटाना है तो संकल्प कर लिया, लक्ष्य बना लिया। उसके पश्चात तीव्रता को मिटाने के लिए विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान करें। पहले धारणा करें। दो-चार मिनिट तक वहां मन को टिका दें, कुछ भी न सोचें। जब स्थान निश्चित हो गया, मन टिक गया, फिर विनम्रता की अनुप्रेक्षा का प्रयोग करें तो तीव्रता को कम करने का रास्ता हमारे हाथ में आ जाएगा। अगर उसके साथ कंठ का कायोत्सर्ग भी करें तो और अधिक अच्छा हो जाएगा।

कंठ का कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग पूरे शरीर का होता है, किंतु एक एक अवयव का भी कायोत्सर्ग होता है। जब एंजियोग्राफी करते हैं या एंजियोप्लास्ट करते हैं तो रोगी को निर्देश दिया जाता है कि आधा मिनिट श्वास रोक लो। एक्स-रे लेना है तो भी कहा जाता है कि श्वास रोक लो, बिल्कुल स्थिर रहो। जब दांत का इलाज करते हैं तो डॉक्टर सुझाव देते हैं–ढीला छोड़ दो। जहां काम कर रहे हैं, उस अवयव को ढीला छोड़ दो। एक-एक अवयव को शिथिल करना सीख जाएं तो आधी पीड़ा यानी 50% पीड़ा तो अपने आप समाप्त हो जाएगी। वैसे ही कंठ के कायोत्सर्ग का अर्थ है–कंठ को शिथिल करना।

जो व्यक्ति कंठ को शिथिल करना जानता है, उसका मन भी बहुत एकाग्र होता है। हमारा स्वर यंत्र ही सारी चंचलता पैदा करने वाला है। स्थूल रूप में भाषा का प्रयोग चाहे न किया जाए, किंतु स्वर यंत्र में तो निरंतर भाषा का कार्य चल रहा है। वैज्ञानिक परीक्षणों के बाद पता चला कि एक आदमी सपना लेता है तो भी स्वर यंत्र सक्रिय रहता है। भाषा का कोई भी प्रयोग स्वर यंत्र की सक्रियता के बिना नहीं होगा। वाणी का मौन तो बहुत स्थूल बात है। वास्तव में मौन का अर्थ है स्वर यंत्र को शिथिल कर देना, कंठ का कायोत्सर्ग करना। मौन है और व्यक्ति मन में सोच रहा है तो उसका स्वर यंत्र तो काम कर रहा है। भाषा काम कर रही है, तनाव भी पैदा हो रहा है, फिर कायोत्सर्ग का लाभ कहां हुआ? मौन का भी लाभ कहां हुआ?

हम जिस समय मौन करें तो साथ-साथ में ध्यान भी कंठ पर कर लें, कंठ का कायोत्सर्ग करें तो इतना बढ़िया मौन होगा और साथ में ध्यान भी हो जाएगा। मौन तो कर लिया और दुनिया भर की बातें सोचते रहे और लिखकर बताते रहे तो केवल होठों का और वाणी का व्यवहार नहीं हुआ और सारा काम यथावत् चलता रहा। इसलिए कंठ का कायोत्सर्ग बहुत महत्त्वपूर्ण उपाय

है आवेश को शांत करने के लिए, अहंकार को शांत करने के लिए। अहंकार की अभिव्यक्ति कहां होती है? अहंकार की स्थिति में व्यक्ति अकड़कर चलता है। यह अकड़न गले में पैदा होती है, कंठ में पैदा होती है। विनम्र, मधुर और मृदु बनना है तो कंठ को लचीला बनाना होगा। विशुद्धि केन्द्र का ध्यान अहंकार-विलय के लिए एक उत्तम उपाय है। अहंकार-विलय का मतलब है कि उसकी तीव्रता को हमने कम कर दिया। जब तीव्रता कम हो गई तो शांति हो गई। एक साधक को इस तीव्रता को कम करना है, इस कड़वाहट को कम करना है। उसके लिए कायोत्सर्ग और दीर्घश्वास का प्रयोग तो है ही, विशुद्धि केन्द्र का ध्यान भी आवश्यक है। यह एक ऐसा प्रयोग है जिसके द्वारा उद्दंडता, उच्छृंखलता, अहंकार की कड़वी भाषा और उद्दंड भाषा इन सबका परिष्कार किया जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान करने वाले साधक के लिए वृत्ति का परिष्कार करने की प्रक्रिया को जानना बहुत जरूरी है। कोरा ध्यान करना तो साधन है। आखिर ध्यान क्यों करते हैं? कोई लक्ष्य बनाना होगा और लक्ष्य बनाकर जिस वृत्ति का परिष्कार करना है, उसकी प्रक्रिया को समझना होगा। उस प्रक्रिया को समझकर ही हम क्रोध की, अहंकार की, लोभ की तीव्रता को मंद करने में सफल हो सकते हैं। इस प्रक्रिया से चलें तो हम एक संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं, अपनी वृत्तियों का परिष्कार कर सकते हैं। आवेश की तीव्रता कम होने पर शिष्ट आचार, शिष्ट व्यवहार, शिष्ट वाणी का विकास होगा और एक अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण हो सकेगा।

जिस समय कर्म तीव्रता से विपाक में आता है, उस समय तो कुछ भान ही नहीं रहता, किंतु जिस व्यक्ति को प्रतीत हो जाए कि इसका तीव्र विपाक हो रहा है, इससे समस्या पैदा हो रही है, कड़वाहट व्यवहार में आ रही है तो प्रयोग शुरू कर देना चाहिए। तत्काल कोई प्रयोग नहीं होगा। तत्काल तो मौन रहने का अभ्यास ही करना होगा। वह भी बड़ा कठिन है। संभव है दो-तीन महीनें के प्रयोग से तीव्रता कम हो जाए और फिर वैसा व्यवहार उसके द्वारा नहीं हो।

विनम्रता और सहिष्णुता

सहिष्णुता और विनम्रता का संबंध खोजें तो पहले हमें क्रोध और अहंकार का संबंध खोजना होगा। क्रोध आने के कई कारण हैं। उनमें एक बड़ा कारण है–अहंकार। जिस व्यक्ति का अहंकार प्रबल है, तत्काल क्रोध आएगा, वह सहन नहीं कर सकेगा। किसी को क्रोध कम करना है तो उसका उपाय है अहंकार को कम करना। किसी ने कुछ कहा–तू कौन होता है मुझे कहने वाला?

एक बार दिल्ली की बात है। प्रवचन हो रहा था। भीड़ काफी थी, इसलिए स्वयं सेवक व्यवस्था कर रहे थे। एक भाई रास्ते में बैठा था। उस भाई से कहा गया–तुम थोड़े इधर हो जाओ। उस समय उसका जो गुस्सा देखा तो ऐसा लगा कि क्रोध स्वयं मूर्तिमान बन गया। सहन क्यों नहीं कर सका? अहंकार के कारण। यह स्वयं-सेवक अभी लड़का है। मैं बड़ा आदमी हूं। मुझे कौन कहने वाला है? बस इस अहंकार के कारण भयंकर गुस्सा आ गया। जितना प्रबल अहंकार होगा, उतना ही तेज गुस्सा आएगा। बहुत सारे पारिवारिक झंझट होते हैं। उनमें ज्यादातर अहंकार ही क्रोध का निमित्त बनता है। क्रोध और अहंकार में सबंध है तो सहिष्णुता और विनम्रता में भी संबंध है। जिसमें सहन करने की शक्ति है, वह तो विनम्र रह सकेगा, पर जिसमें सहन करने की शक्ति नहीं है, वह विनम्र व्यवहार नहीं कर सकता। मृदुता के साथ सहिष्णुता और विनम्रता का संबंध जुड़ा हुआ है। मृदुता से तात्पर्य है मधुर व्यवहार और मधुर व्यवहार का मतलब है व्यवहार की कटुता को कम करने के लिए मधुर वचन का प्रयोग।

17. लाघव

एक आदमी तालाब में स्नान कर रहा था। उसने गहरी डुबकियां लीं। एक घंटा तक वह जल में तैरता-डूबता रहा। आखिर बाहर आया। घर जाते समय जल का घड़ा भर लिया। घड़ा कंधे पर रख कर वह चलने लगा। घर कुछ दूर था। मार्ग में वह थक गया। उसने मन ही मन सोचा–तालाब में डुबकी लगाई तब सैकड़ों टन पानी मेरे सिर पर था, पर मुझे कोई भार का अनुभव नहीं हुआ। घड़े में दस-बारह किलो पानी होगा, फिर भी मुझे भार का अनुभव हो रहा है–क्यों? यह प्रश्न उन सबके मन में पैदा होता है, जो व्यापक और सीमित दोनों क्षेत्रों का अवगाह करते हैं।

ऋद्धि-लाघव

तालाब में जल मुक्त होता है, उसका अवगाह-क्षेत्र व्यापक होता है, इसलिए भार का दबाव विकेन्द्रित हो जाता है। घड़े में जल बंधा होता है, उसका अवगाह-क्षेत्र सीमित होता है, इसलिए भार का दबाव केन्द्रित हो जाता है। जब धन का संग्रह सीमित क्षेत्र में होता है, तब वातावरण में दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब धन का अवगाह-क्षेत्र व्यापक हो जाता है, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था–'धन को अपना मत मानो। धन को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और ऋद्धि-लाघव से वह हल्का बनता है।'

रस-लाघव

जब खाद्य-सामग्री केन्द्रित हो जाती है, कुछेक लोगों के हाथों में जमा हो जाती है, तब वातावरण में दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब खाद्य-सामग्री विकेन्द्रित हो जाती है, सबके हाथों में पहुंच जाती है, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था, 'खाद्य-पदार्थ को अपना मत मानो। खाद्य को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और रस-लाघव से वह हल्का बनता है।'

सुख-लाघव

जब सुख की अनुभूति केन्द्रित हो जाती है, अपनी सुख-साधना में दूसरों की कठिनाइयों की अनुभूति मिट जाती है, तब वातावरण में दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब सुख की अनुभूति व्यापक हो जाती है, दूसरों की कठिनाइयां बढ़ाने में रस नहीं रहता, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था, 'सुख को अपने तक सीमित मत करो सुख को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और सुख-लाघव से आदमी हल्का बनता है।'

शांति और स्वास्थ्य

एक पद-यात्री से पूछिए, वह हल्का होकर चलना चाहता है या बोझ से लदकर? उत्तर मिलेगा, 'हल्का होकर चलना चाहता हूं।' हम अपने मस्तिष्क पर कितना भार ढोते हैं? एक गधा जितना नहीं ढोता, उतना भार हम कल्पनाओं का ढोते हैं। जितना भार एक ऊंट नहीं ढोता, उतना भार हम योजनाओं का ढोते हैं। जितना भार एक हाथी नहीं ढोता, उतना भार हम मान्यताओं का ढोते हैं। बहुत बार लोग कहते हैं कि मन में शांति नहीं है, प्रसन्नता नहीं है। वे शांति चाहते हैं, पर दिमाग का बोझ हल्का करना नहीं चाहते। वे प्रसन्नता चाहते हैं, पर दिमाग का बोझ हल्का करना नहीं चाहते। शरीर का भारी होना ज्वर का लक्षण है। शरीर का हल्का होना स्वास्थ्य का लक्षण है। दिमाग का भारी होना अशांति का लक्षण है। दिमाग का हल्का होना शांति का लक्षण है।

आज के औद्योगिक युग में चारों ओर तनाव बढ़ रहा है–स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव, व्यावहारिक तनाव और व्यावसायिक तनाव। तनाव और तनाव से उत्पन्न होने वाला पागलपन। क्या लाघव के सिवा इसकी कोई चिकित्सा हो सकेगी?

घड़ा अपने लिए भरने और उतना भार ढोने की बात समझ में आ सकती है, पर तालाब को अपने लिए बनाने की बात समझ में नहीं आ सकती। जो लोग ऐसा कर रहे हैं, वे केवल अपनी शांति और प्रसन्नता को ही दियासलाई नहीं दिखा रहे हैं, किंतु समूचे समाज की शांति और प्रसन्नता की होली जला रहे हैं।

18. कैसे हो आकिंचन्य का विकास?

उत्तम धर्म की श्रृंखला में नौवां धर्म है आकिंचन्य। इसके स्थानांतरण में लाघव शब्द का प्रयोग भी होता है। प्राचीनकाल की बात है। एक विद्वान आचार्य के मन में प्रश्न उठा–क्या कोई व्यक्ति तीन लोक का स्वामी हो सकता है? सब बड़े-बड़े लोग हैं। कोई हिन्दुस्तान का राष्ट्रपति है, प्रधानमंत्री है तो कोई पाकिस्तान का है, कोई श्रीलंका का है, कोई अमेरिका का है तो कोई इंग्लैण्ड का है। सबकी अपनी अपनी सीमा है। अपनी सीमा के बाहर जाता है तो अतिथि हो सकता है, स्वामी नहीं। देवता भी अपने इन्द्रलोक का स्वामी होता है। वहां भी सीमाएं हैं। एक देवता एक सीमा का स्वामी होता है। वह भी सब स्वर्गों का स्वामी नहीं होता।

तीन लोक का स्वामी कौन?

एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा की गई–तीन लोक का स्वामी कौन हो सकता है? चिंतन करने पर लगा कि एक चक्रवर्ती भी तीन लोक का स्वामी नहीं होता, क्योंकि उसकी अपनी सीमा है, सम्राट की भी सीमा है। लोकतंत्र में शासक होते हैं, उनकी भी सीमा होती है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक–इन तीनों लोकों के स्वामी के बारे में चिंतन किया। चिंतन के बाद खूब विशाल दृष्टि से देखा। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जो तीन लोक का स्वामी हो। कोई ऊंचे लोक में हैं, उनके साथ भी सीमा जुड़ी हुई है। नीचे लोक में भी सीमा है और मध्य लोक में भी सीमा है। कोई भी तीनों लोकों का स्वामी नहीं है।

अपने-अपने लोक में भी सबका क्षेत्र बंटा हुआ है। सौधर्म स्वर्ग और ईशान स्वर्ग–इन दोनों के अपने-अपने इन्द्र हैं। इनकी अपनी सीमाएं हैं और सीमा को लेकर झगड़ा भी होता है। जैसे यहां हिन्दुस्तान, पाकिस्तान आदि राष्ट्रों में सीमा का झगड़ा होता है, वैसे ही उनमें भी सीमा का झगड़ा होता है। एक बार सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र में सीमा का झगड़ा हो जाता है, दोनों में लड़ाई शुरू हो जाती है। फिर तीसरे स्वर्ग का इन्द्र सनत्कुमार आकर कहता है–'**मा**

सक्का मा ईसाणा'। शक्रेन्द्र! लड़ो मत। ईशानेन्द्र! लड़ो मत, समझौता करो। सीमा का विवाद देवलोक में भी होता है। ऐसी स्थिति में तीन लोक का नाथ कौन बन सकता है? आचार्य को अपने चिंतन से उत्तर मिल गया। जो व्यक्ति भीतर अपनी चेतना के पास जाता है, उसको समाधान मिल जाता है, उसे अपने जटिल से जटिल प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। उन्होंने कहा–

अकिंचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगिगम्यमिदं सत्यं, रहस्यं परमात्मनः॥

जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह अकिंचन तीन लोक का स्वामी होता है, उसका सर्वत्र अधिकार है। इसलिए उसे ऊंचे लोक के देवता भी नमस्कार करते हैं, मनुष्य भी नमस्कार करते हैं और अधोगति के देव भी नमस्कार करते हैं। इसका एक व्यावहारिक रूप हमने भी अनुभव किया। हमारा कोई मकान नहीं है। गुरुदेव तुलसी के साथ हमने भारत के बड़े भूभाग की यात्राएं कीं। हम जहां गए, कहीं झोंपड़ी मिली तो कहीं अट्टालिका। गुरुदेव बाड़मेर की यात्रा कर रहे थे। कहीं खटमल थे, कहीं मकोड़े और कहीं चींटियां। एक बार स्थान बहुत छोटा था। रात को वर्षा आ गई। पांच-सात लोग बाहर सो रहे थे। गुरुदेव ने साधुओं को जगाया। मध्य रात में आधी झोंपड़ी खाली कर दी, आधी में साधु बैठ गए और आधी में श्रावक। हमें अनेक बार झोंपड़ीनुमा मकान मिले तो जहां हजारों आदमी एक साथ रह सकें, ऐसे विशाल भवन भी हमें मिले। राज्यपाल की कोठियों में रहे। मोरारजी भाई प्रधानमंत्री थे, उनके साथ भी रहे। कभी विश्वविद्यालय, कॉलेज और अन्य संस्थाओं के बड़े-बड़े विशाल भवन, जो कई एकड़ों में फैले हुए हैं, वहां रहे। पांच-दस, बीस एकड़ में फैले हुए स्थान भी मिले। उनमें भी हम रहे।

एक दिन हम गंगाशहर में ईश्वरचन्द जी चौपड़ा के भवन में ठहरे। मैं तो उस समय बाईस-तेईस वर्ष का था। हम रात को जिस कक्ष में सोए, सुबह ईश्वरचन्द जी आए और बैठ गए। बोले–आपने यहां क्या देखा? हमने कहा– आपका कमरा है, अलमारियां पड़ी हैं। पुनः पूछा कि इनके भीतर क्या है? मैंने कहा–भीतर हम कैसे देखें? देखने की मन में भी नहीं आई। ताले लगे हुए हैं। उन्होंने ताले खोलकर दिखाया। इतने कीमती आभूषण उन आलमारियों में पड़े थे। अगर आज के मूल्य से आंकें तो कम से कम चालीस करोड़ से पचास करोड़ रूपयों के आभूषण होंगे। उन्होंने दिखाया, हमने देख लिया। फिर मन में आया कि यह अकिंचन होने का प्रभाव है। करोड़ों के आभूषण पड़े हैं, मन में

प्रश्न ही नहीं उठा कि क्या होगा? हमें रात को वहां सुलाया गया। अगर गृहस्थ होता तो कभी वह कमरा सोने को नहीं देते। हम अकिंचन थे तो कोई खतरा नहीं था। इसलिए सोने के लिए दे दिया। अकिंचन कहता है–मेरा कुछ भी नहीं है। शरीर भी मेरा नहीं है। जब आकिंचन्य धर्म का उदय होता है, सचमुच व्यक्ति अकिंचन हो जाता है। वही व्यक्ति तीन लोक का स्वामी हो सकता है।

अधिकांश लोगों के पास किंचन है, कुछ है। किसी के पास लाख रुपये हैं, किसी के पास दस लाख हैं, किसी के पास करोड़ हैं, सबकी सीमा है। अकिंचन के पास ऐसा कुछ नहीं होता, इसलिए उसके लिए कोई दरवाजा बंद नहीं होता। कोई राज्यपाल की कोठी में चला जाए, द्वारपाल भीतर भी नहीं जाने देगा और हमारे लिए ठहरने हेतु राज्यपाल की कोठी भी तैयार थी। कठिनाई नहीं हुई। हम जितने भवनों में ठहरे हैं, सामान्य लोग तो उतने भवनों में ठहर भी नहीं सकते। मद्रास में रामनाथ गोयनका का विशाल भवन था। कितना बहुमूल्य भवन होगा? हमारे लिए सब दरवाजे खुले थे। कारण था आकिंचन्य। जब यह देखा जाता कि इनके पास कुछ भी नहीं है, सबका विश्वास पैदा हो जाता है। जब आकिंचन्य की चेतना का जागरण होता है तब व्यक्ति सचमुच तीन लोक का स्वामी बन जाता है। तीन लोक का अधिपति वही बन सकता है, दूसरा कोई नहीं बन सकता। जिसके पास कुछ है, उसके सीमा हो जाएगी।

तीन गौरव

आकिंचन्य का उदय कैसे होता है? इस संदर्भ में तीन गौरव बतलाए गए हैं–

1. ऋद्धि गौरव 2. रस गौरव 3. सात गौरव।

ये तीनों अहंकार के स्थान हैं, गर्व और बड़प्पन के स्थान हैं। एक बार गुरुदेव ने कहा–कभी हमको बड़ा बताया जाता है और कभी तेज विरोध भी होता है। हमारे क्या फर्क पड़ता है? चींटियां सामने आ गईं तो हम पीछे हट जाते हैं, चींटियां भी हमें हरा देती हैं तो भला आदमी की तो बात ही क्या? कोई भी हरा सकता है। रास्ते में चींटियां मिले तो हम रास्ता ही बदल देते हैं या यों कहें कि कभी-कभी चींटियां भी हमारा रास्ता बदल देती हैं, फिर हमारा बड़प्पन कहां रहा? हम बड़े नहीं हैं, अकिंचन कभी बड़ा नहीं होता।

रिद्धि का गौरव, रस का गौरव और साता का गौरव–ये आज की भाषा में बड़प्पन के तीन मानदंड हैं।

ऋद्धि-गौरव

आदमी बहुत गर्व करता है कि मेरे पास इतनी संपत्ति है। बोले या ना बोले। बहुत सारे लोग तो बोल भी देते हैं तो कुछ नहीं भी बोलते हैं, पर मन में गर्व जरूर रहता है। बहुत वर्षों पहले एक भाई हमारे पास आया। वह बोला–मैंने लड़की की शादी की। मैंने उसकी बात को सुन लिया। मेरी कोई जिज्ञासा नहीं थी। मैंने कुछ भी नहीं पूछा, लेकिन वह स्वतः ही बोला–शादी दिल्ली की नामी होटल में की थी। महाराज! शादी में मैंने पचास आइटम बनाए। यह पुरानी बात है। आज का समय होता तो कहता–100, 150, 200 आइटम बनाए। वह सारी गर्व की भाषा बोल रहा था। साथ में उसका अहंकार भी बोल रहा था। वह अपने गर्व को प्रकट करता गया। मैं सुनता रहा।

आखिर जब वह मौन हुआ तब मैंने एक ही प्रश्न किया कि इतने बढ़िया होटल में शादी की और इतने आइटम बनाए, साथ में एक हॉस्पिटल बनाया या नहीं? एकदम से वह मौन हो गया। मैंने कहा–इतनी चीजें बनाई हैं तो खानेवाला बीमार तो जरूर पड़ेगा। साथ में हॉस्पिटल की भी जरूरत रहेगी। वह हक्का-बक्का रह गया। गर्व का प्रदर्शन बहुत लोग करते हैं। जहां आकिंचन्य है, वहां रिद्धि का गर्व नहीं होता। पास में पैसा ही नहीं है तो गर्व किस बात का होगा?

गुरुदेव तुलसी दिल्ली में विराज रहे थे। एक दंपति आया, बातचीत की। बातचीत के प्रसंग में गुरुदेव ने कहा–हमारा कोई आश्रम नहीं है। यह अध्यात्म साधना केन्द्र भी हमारा आश्रम नहीं है। हम तो यहां आए हैं, आज्ञा लेकर ठहरे हैं और जब प्रस्थान करेंगे तब सौंप देंगे। उसके बाद क्या होगा? हमें इस मकान से कोई लेना-देना नहीं है। उसको यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। दंपति ने हमारी बातों को ध्यान से सुना। अपने गंतव्य की ओर जाने लगे तो महिला ने सौ रुपए का नोट निकाला और गुरुदेव के पट्ट के सामने रख दिया। गुरुदेव ने कहा–बहन जी! क्या है? महाराज! यह तो अल्प-सी भेंट है। गुरुदेव ने कहा–इतने से रुपयों से क्या होगा? महाराज! इस बार आऊंगी तब ज्यादा लेकर आऊंगी। अभी तो मुझे पता नहीं था। गुरुदेव ने उसे समझाते हुए कहा–हम रुपए लेते ही नहीं हैं। वह महिला बोली–आप साधु हो और भक्तों से पैसा नहीं लेते हो। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। हमें भी आश्चर्य हुआ कि साधुओं के साथ यह पैसा कैसे जुड़ गया? तब गुरुदेव ने समझाया–हम तो अकिंचन हैं। पैसा कहां रखेंगे? न हमारे पास कोई अलमारी है, न कोई मकान है, न ताला

है, न चाबी है। कुछ भी नहीं है। जहां अकिंचनता है, वहां रिद्धि नहीं होती, फिर गर्व किस बात का होगा?

रस-गौरव

दूसरा गर्व का स्थान है रस। आदमी भोजन का भी बड़ा गर्व करता है। आज उसके घर भोजन किया, बड़ा स्वादिष्ट भोजन था। आज वह चीज खाई, बहुत मधुर थी। आजकल भोजन के लुभावने विज्ञापन आते हैं। उन विज्ञापनों के आकर्षण से बंधकर लोग विवेक को भी मानो खूंटी पर टांग देते हैं। खाद्य-अखाद्य का विवेक समाप्त हो जाता है। रस का भी बड़ा गर्व होता है। कभी-कभी बढ़िया भोजन चर्चा का बड़ा विषय बन जाता है।

साता-गौरव

तीसरा है सुख का गौरव। अनुकूल स्थितियों से सुख मिलता है। उसकी भी आदमी व्याख्या करता रहता है, उसका भी गर्व होता है। मुझे इतना धन मिला, ऐसा परिवार मिला, इतने अच्छे कर्मचारी मिले, इसका भी व्यक्ति गर्व करता रहता है। मकान का भी गर्व करता है। एक भाई आया और बोला–मैंने एक करोड़ रुपये की लागत से बड़ा मकान बनाया है। उसमें इतने कक्ष हैं। उसका काफी बखान किया। गर्व का मतलब ही है कि प्रशंसा करो। व्यक्ति जब तक प्रशंसा नहीं करता, तब तक उसका आनंद भी नहीं आता। वह लोगों के सामने जब विज्ञापन करता है तब उसको आनंद का अनुभव होता है।

किंचन : अकिंचन

ये तीनों अहंकार हैं–ऋद्धि का अहंकार, रस का अहंकार और सुख-सुविधा की अनुकूलता का अहंकार। जिस व्यक्ति में तीनों अहंकार होते हैं, वह किंचन होता है और जिसमें तीनों अहंकार नहीं होते, वह बिल्कुल अकिंचन बन जाता है। सुख-दुःख का भी बड़ा द्वंद्व है। अकिंचन व्यक्ति सुख-दुःख में समान रहेगा। कोई अकिंचन है और वह यदि सुख आया तो राजी हो गया, दुःख आया और नाराज हो गया तो फिर वह अकिंचन नहीं रह सकता। वह भी किंचन हो जाता है, वह भी परिग्रही हो जाता है। वेणीराम जी स्वामी मालवा की यात्रा करते हुए रतलाम पहुंचे। वहां एक स्थान पर जाकर ठहरे। लोगों ने कहा–कौन हो तुम? तेरापंथी हो? कहा–हां। यहां से चले जाओ। चले गए। दूसरी जगह ठहरे। वहां से भी निकाल दिया। उनको एक दिन में नौ बार निकाला गया। जहां बैठे, एक घंटा भी व्यतीत नहीं हुआ, वहां से निकाल देते।

फिर भी कोई आक्रोश नहीं। वही मुद्रा, वही प्रसन्नता, वही काम। मन में नहीं आया कि क्यों साधुत्व को स्वीकार किया? वे आचार्य भिक्षु के शिष्य थे। आचार्य भिक्षु का शिष्य कौन होता है? मैंने एक गीत में लिखा है–

जो निष्ठा को पढ़ पाएगा, वह भिक्षु शिष्य कहलाएगा।

भिक्षु स्वामी ने आकिंचन्य का जीवन में प्रयोग किया था। यह आकिंचन्य धर्म सामान्य आदमी के समझ में आने वाली बात नहीं है। हमारी दो श्रेणियां बन जाती हैं। एक किंचन लोगों की श्रेणी और एक अकिंचन लोगों की श्रेणी। जो आकिंचन्य का अनुभव करता है, वह सुखी जीवन जीता है। उसे दुनिया में कोई कष्ट नहीं दे सकता। इसलिए हर आदमी आकिंचन्य का अनुशीलन तो नहीं कर सकता, पर जो सुखी रहना चाहे, कभी-कभी अकिंचनता की अनुभूति अवश्य करे। उसका यह अनुभव निःसंदेह एक परम सुख का और परम आनंद का हेतु बन सकता है।

19. सत्य

सत्य बहुत विराट है। विराट को शब्दों में बांधना एक साहसिक प्रयत्न है। आदमी अनंत आकाश को बांध अपना घर बना लेता है। अनंत में फैली हुई सूरज की रश्मियों को ग्रहण कर उसे आलोकित कर लेता है। तब सत्य के अंचल का स्पर्श कर हम क्यों नहीं विराट विभूति की अनुभूति कर सकते?

अज्ञानजन्य आग्रह

आग्रह के लोहावरण को तोड़े बिना क्या कोई सत्य तक पहुंचा है? जिसने अपनी धारणा की खिड़की से सत्य को देखा, वह सत्य से दूर भागा है। जिसने तथ्यों की खिड़की से सत्य को देखने का प्रयत्न किया, वह सत्य के निकट पहुंचा है।

एक कुलवधू रस्सी से पीपल को बांधकर खींच रही थी। उसके हाथ रक्त-रंजित हो रहे थे। शरीर कांप रहा था। आंखों से अविरल आंसू टपक रहे थे, फिर भी हठी पीपल एक पग भी नहीं सरक रहा था। एक पथिक उधर से आया। उसने सारा दृश्य देखा। वह शांत स्वर से बोला–'बहन! क्या कर रही हो?' 'भैया! सास ने पीपल मंगाया है, इसलिए इसे घर ले जाने का प्रयत्न कर रही हूं, पर यह बहुत हठी है। मेरी एक भी बात नहीं मानता।' कुलवधू ने फिर एक बार रस्सी को दृढ़ता से खींचा, किंतु पीपल नहीं चला।

पथिक ने कहा–'बहन! पीपल ऐसे नहीं जाएगा।' वह पीपल पर चढ़ा, एक टहनी तोड़ी। उसकी ओर बढ़ाते हुए बोला–'लो! यह पीपल अपनी सास को दे देना।'

आचार्य भिक्षु ने इस कथा के द्वारा अज्ञानलब्ध आग्रह का चित्रण किया है, किंतु आग्रह का यह एक रूप ही नहीं होता। अपनेपन का भी आग्रह होता है।

एक आदमी तलैया में बैठा जल पी रहा था। जेठ की गर्मी में उसका जल सूख गया था। थोड़ा-बहुत बचा, वह मिट्टी से मिला हुआ था। एक पथिक उस

मार्ग से आया। उसने कहा–'थोड़ी दूर पर बड़ा तालाब है, स्वच्छ पानी है। वह पीओ। क्यों पीते हो यह मिट्टी-मिला पानी?' 'यह मेरे पिता की तलैया है, मैं इसी का जल पीऊंगा'–यह कह वह फिर जल पीने का प्रयत्न करने लगा।

इस प्रकार सोचने और व्यवहार करने वाले लोग इस दुनिया में कम नहीं हैं। यदि अपनेपन का आग्रह नहीं होता तो सत्य का मुंह आवरणों से ढंका हुआ नहीं होता।

मोहजन्य आग्रह

मोहजनित आग्रह इससे भी भयंकर होता है। धोबी के घर एक कुत्ता रहता था। उसका नाम था सताबा। धोबी के दो पत्नियां थीं। वे परस्पर बहुत लड़ती थीं। लड़ते समय एक-दूसरे को गाली देतीं, 'आई है सताबा की बैर (पत्नी)'। कुत्ता इस नाम के मोह में फंस गया। उन्होंने कुत्ते को रोटी डालना बंद कर दिया। वह भूख से सूख गया। पड़ौस के कुत्ते ने कहा–'चलो, घूमें और रोटी खाएं।' उसने कहा–'मैं अपनी दो पत्नियों को छोड़कर बाहर कैसे जा सकता हूं?'

संस्कारजन्य आग्रह

संस्कार का आग्रह भी किसी से कम नहीं होता। एक चींटी कहीं जा रही थी। बीच में दूसरी चींटी मिल गई। दोनों ने बातचीत की। अतिथि-चींटी ने सुख-संवाद पूछा तो वहां खड़ी चींटी ने कहा–'बहन! और तो सब ठीक है, पर मुंह खारा बना रहता है।' अतिथि-चींटी ने कहा–'तुम नमक के पर्वत पर रहती हो, फिर मुंह खारा कैसे नहीं होगा? चलो मेरे पास। मैं मिसरी के पहाड़ पर रहती हूं। वहां तुम्हारा मुंह मीठा हो जाएगा।' वह अतिथि– चींटी के साथ चल पड़ी। वहां पहुंचने पर भी उसका मुंह मीठा नहीं हुआ। उसने कहा–'मेरा मुंह तो अभी भी खारा ही है।' वहां रहने वाली चींटी ने कहा–'मुंह में नमक की डली तो नहीं लाई हो?' 'वह तो है, नमक के पहाड़ पर रहने वाली चींटी ने कहा। 'बहन! नमक को छोड़े बिना मुंह मीठा कैसे होगा?'

पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाए बिना कोई भी आदमी सत्य को नहीं पा सकता।

20. सत्य : साधना का पहला सोपान

आत्मशुद्धि, आत्मोपलब्धि, आत्मसाक्षात्कार और आत्मा के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है सत्य। हम औरों के साथ रहते हैं, किंतु आत्मा के साथ रहना बहुत कठिन है। जो व्यक्ति सत्य में विश्वास नहीं करता, वह आत्मा के साथ नहीं रह सकता, वह आत्मा का अध्ययन भी नहीं कर सकता।

आत्मा के साथ रहें

सत्य में जिसकी गहरी निष्ठा है, वह मिथ्या क्रोध नहीं करता। उसे आत्मा के साथ रहने में सुविधा हो जाती है। जो आत्मा के साथ रहना जानता है, वह सचमुच एक दिव्य आत्मकृत स्थिति का अनुभव करने लग जाता है। एक संत जा रहे थे, रास्ते में जंगल आ गया। वहां का वातावरण देखा तो ध्यान करने को मन ललचा गया। जो व्यक्ति ध्यान में रुचि रखने वाले हैं, उन्हें एकांत का वातावरण मिल जाए, जंगल मिल जाए, वृक्ष मिल जाए, शुद्ध हवा मिल जाए तो ध्यान करने का मन अपने आप हो जाता है। संत के साथ में चेला भी था, उसको कहा–चलो, सामने बहुत सुंदर पेड़ है। वहां बैठकर हम ध्यान करेंगे। वहां जाकर आसन जमाकर बैठ गए। चेला भी बैठ गया। गुरु तो पहुंचे हुए थे, एक मिनट में समाधि में चले गए। चेला नया-नया था, कभी इधर देखता है, कभी उधर देखता है, कभी आंखें खोलता है, कभी बंद करता है। दस-बीस मिनट में ही उसने देखा–सामने पहाड़ियों से एक शेर आ रहा है। तत्काल गुरु के कान में बोला–गुरुदेव! शेर आ रहा है। एक बार, दो बार, तीन बार कहा, पर गुरु ने नहीं सुना। मन में सोचा–गुरु तो मेरी बात सुन नहीं रहे हैं और शेर आगे बढ़ रहा है। शिष्य भयभीत होकर पेड़ के ऊपर चढ़ गया। थोड़ी देर में शेर वहां पहुंचा, पर गुरु तो समाधि में लीन थे, शेर पांच मिनट इधर-उधर घूमा, चक्कर लगाया, सूंघा और चला गया।

जिस व्यक्ति का आभामंडल पवित्र होता है, जिस व्यक्ति में अहिंसा और सत्य की चेतना प्रतिष्ठित होती है, आने वाला भय भी समाप्त हो जाता है। आधा घंटा के बाद शिष्य पेड़ से नीचे उतरा। गुरु का ध्यान भी पूरा हो गया।

वह बोला–गुरुदेव! मैंने आपको कहा था कि शेर आ रहा है, आपने ध्यान ही नहीं दिया। गुरु ने कहा–मैं तो अंतर्ध्यान में था। समाधि में पहुंच गया था। शिष्य बोला–गुरुदेव! शेर एकदम नजदीक आ गया था। गुरु ने कहा–कोई बात नहीं है, आ गया होगा। गुरु और शिष्य ने जंगल को पार किया। वहां मच्छर काफी थे, एक मच्छर ने गुरु के कंधे पर काट लिया। गुरुजी खुजलाने लगे, कुछ परेशान से हो गए। यह देख चेला हंसने लगा। गुरु ने उसे देख लिया और पूछा–तुम हंस क्यों रहे हो? वह बोला–गुरुदेव! हंसने का कारण यह है कि जब शेर आया तब तो आप डरे ही नहीं और एक मच्छर काट गया, उससे आप इतने परेशान हो गए। गुरु ने कहा–तुम समझते नहीं हो, तब मैं मेरे भगवान के साथ था और अब मैं तेरे साथ हूं। साथ का कितना फर्क पड़ता है। अगर हम आत्मा के साथ रहना सीख जाएं तो शायद शेर का भी भय नहीं लगेगा और आत्मा के साथ रहना नहीं जानते हैं तो मच्छर भी भारी बन जाता है। इसलिए हमें यह सीखना है कि हम किसके साथ रहें? आत्मा के साथ रहना सीख जाएं, अपनी चेतना में रहें, जागृत रहें तो एक अलौकिक दशा का अनुभव हो सकता है।

सत्य का अर्थ

आत्मा के साथ रहने के लिए जो नियम हैं, उनको भी समझना होगा। उनमें एक नियम है सत्य। सत्य का अर्थ बहुत व्यापक होता है, सत्य का एक अर्थ है मिथ्या वचन का परिहार यानी झूठ नहीं बोलना। भाष्यकार ने सत्य के संदर्भ में दो शब्दों का प्रयोग किया है–**अपिशुनम्, अपरुषम्।** कठोर वचन बोलना मिथ्या वचन है। जो कानों में कांटे की तरह चुभ जाए, वह भी मिथ्या वचन है। चुगली करना भी मिथ्या वचन है। कुछ लोगों की आदत ही बन जाती है हर बात को इधर-उधर करना, चुगली करना, दूसरे को गिराना, परस्पर में द्वेष पैदा कर देना, अप्रीति पैदा करना। ये सब मिथ्या वचन हैं। सत्य वचन वह है, जिससे किसी का अहित न हो और साथ-साथ जो किसी को अप्रिय भी न लगे। जो न द्वेष पैदा करे, न विग्रह पैदा करे और जो असत्य भी न हो। सत्य वचन यानी जो सभा में बोला जा सके। आज तो बड़ी कठिनाई हो रही है। बड़ी-बड़ी सभाओं में ऐसी बातें कह दी जाती हैं, जिसकी पुराने लोग कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

दिल्ली में हमारी एक गोष्ठी हो रही थी। उस गोष्ठी में प्रसंगवश मैंने कहा कि हिन्दुस्तान का एक वह समय था जब एक चेतना जागृत थी और एक स्पष्ट अवधारणा बनी हुई थी, जिसके आधार पर महामात्य चाणक्य ने और दूसरे विद्वानों ने लिख दिया–**संसदि परदोषं न प्रकाशयेत्।** सभा में दूसरे के

दोषों को नहीं बताना चाहिए। आज तो यह हो गया कि जहां बड़ी-बड़ी सभाएं होती हैं, वहां दूसरों की कमियां, बुराइयां खुलकर बतलाई जाती हैं। राजनीति के क्षेत्र में तो मंच पर भी यह सब होता रहता है। वहां एक दूसरे को नीचे गिराने की बातें कही जाती हैं। यह एक उदात्त चेतना की अवधारणा नहीं है। उदात्त चेतना की अवधारणा तो यह है कि किसी की कोई बुराई हो, कमी हो तो एकांत में उस व्यक्ति से कह दो, पर सभा में प्रकट मत करो। आज तो सारा उलट गया। व्यक्ति को नहीं, जितना कहना हो बाजार में कहो या बड़ी परिषद में कहो या ऊंची से ऊंची आवाज में और राष्ट्र की बड़ी से बड़ी सभा में कहो। यह भी एक प्रकार से असत्य का पोषण है। बात सही होने पर भी वह असत्य है, क्योंकि वह हितकर नहीं है। वह वचन, जो हित का संपादन करे, सत्य हो सकता है। जो दूसरे का अहित करे, मन में अप्रियता पैदा करे, वह सही बात भी मिथ्या हो जाती है।

सत्य : सर्वोपरि तत्त्व

सत्य पर निष्ठा हो, हम इस एक बात को पकड़ लें। हमारी यह धारणा बन जाए कि सत्य जीवन का सर्वोपरि तत्त्व है। महात्मा गांधी की सत्य में गहरी निष्ठा थी। स्कूल का अध्ययन कर रहे थे। मैट्रिक का पेपर था। परीक्षा में एक प्रश्न जनरल नॉलेज का आ गया। प्रश्न था कि सोने से सुनहरा क्या है? गांधीजी ने उत्तर दिया–सत्य। सत्य सोने से भी ज्यादा सुनहरा है। उनके भीतर सत्यनिष्ठा थी। उस सत्यनिष्ठा ने उनसे बड़े-बड़े काम करवाए। हमारे सामने पांच महाव्रत हैं और पांच अणुव्रत हैं। अहिंसा पहला है और सत्य दूसरा। प्रश्न है साधना शुरू कहां से करें? अहिंसा से साधना शुरू करें या सत्य से? यदि गहरे में जाएं तो हमारी साधना सत्य से शुरू होनी चाहिए। यदि सत्य सध गया तो अहिंसा भी सध जाएगी। सत्य नहीं सधा तो व्यक्ति किसी की हिंसा करके आया और पूछा गया कि क्या करके आए हो? दूसरे का भला करके आया हूं, झूठ बोल जाएगा। वहां अहिंसा भी समाप्त हो जाएगी। पहले सत्य की साधना करें। सत्य जितना परिपक्व होगा, अहिंसा अपने आप उतनी ही परिपक्व हो जाएगी।

एक गांव में मुनि आए। बड़े तत्त्वज्ञानी थे। लोगों ने प्रवचन सुना। बड़ा मार्मिक प्रवचन था। सबको बड़ा अच्छा लगा। एक व्यक्ति रोज प्रवचन में आता। दो-तीन दिन बाद उसके मन में आया कि प्रवचन तत्त्वज्ञान का ही हो रहा है, बड़े ज्ञानी गुरु हैं। मेरा बेटा व्यसनों में फंसा हुआ है। उसका भी उद्धार हो जाएगा। पिता गुरु के पास आया, आकर बोला–गुरुदेव! मेरा बेटा व्यसनों में बहुत फंसा हुआ है और आप जैसे ज्ञानी मुनि का योग मिला है तो मैं चाहता

हूं कि उसका भी उद्धार हो जाए। मुनि ने कहा–वह हमारे पास आएगा तब बात करेंगे। पिता ने वहां से प्रस्थान कर दिया। बेटे से कहा–गुरुजी के पास जाना है, वह बोला–मैं नहीं जाना चाहता। जिस व्यक्ति में बुराई का आवरण सघन होता है, वह अच्छाई के पास जाना पसंद नहीं करता। वह सब जगह चला जाएगा, वहां नहीं जाएगा जहां उसे अच्छी बात सुनने को मिले। वह सब बात सुन लेगा, किंतु आत्मज्ञान की बात सुनना पसंद नहीं करेगा। पिता ने बहुत आग्रह किया, आखिर पिता की बात मान ली। मुनि के पास आ गया। प्रवचन सुना, प्रवचन के बाद बैठे, बातचीत शुरू हुई। मुनि ने पूछा–शराब पीते हो? हां, पीता हूं। और क्या करते हो? महाराज! यह पूछो कि मैं क्या नहीं करता? दुनिया में जितनी बुराइयां हैं, मुझे सब अच्छी लगती हैं। बुराइयों ने मेरा साथ दिया है। बुराई के साथ मेरा बड़ा प्रेम है। साधु ने देखा–यह तो पूरा जकड़ा हुआ है। मुनि बोले–एक बात बताओ, कुछ भी छोड़ना चाहोगे? महाराज! छोड़ने का नाम भी मत लेना। मैं रह नहीं सकता। मैं आप के पास आ गया, पिता का मन रह गया। इससे आगे कोई बात नहीं है। साधु ने सोचा–बात तो बहुत टेढ़ी है। आया और खाली हाथ जाएगा। खाली हाथ जाना अच्छा नहीं लगता। यह बड़ी समस्या है। आखिर मुनि ने कहा–चलो कोई बात नहीं, तुम कोई भी बुराई नहीं छोड़ सकते, पर यहां मेरे पास आए हो तो कुछ तो मुझे भी देकर जाओगे। एक बात तो मेरी मानोगे। कहो, आप क्या कहना चाहते हो? आप छोड़ने की मत कहना। मुनि ने कहा–मैं तो यह कहूंगा कि तुम झूठ बोलना छोड़ दो। उसने थोड़ी देर सोचा और कहा–इसमें क्या बड़ी बात है? न तो खाने की चीज छूटती है, न पीने की छूटती है, न कहीं जाने की छूटती है, कुछ भी नहीं छूटता। अच्छा महाराज! संकल्प करा दो। पक्की बात है? हां, व्रत लेने के बाद पक्का पालूंगा। थोड़ी देर बाद पिता आया, बोला–महाराज! क्या हुआ, कुछ समझा? अब समझने का अवकाश नहीं है। न तो उसने व्यसन छोड़ा और न ही कुछ और छोड़ा है। एक बात का संकल्प मैंने दिला दिया है, इससे जड़ की बात तुम्हारे हाथ में आ जाएगी। एक लगाम तुम्हारे हाथ में आ जाएगी। क्या व्रत दिलाया है आपने? झूठ नहीं बोलना। महाराज इससे क्या होगा? अरे समझते नहीं हो मैंने अध्ययन किया और अनुभव किया कि उसमें लज्जा है, संकोच है। हां महाराज! यह शरमाता बहुत है। बहुत लज्जालू है। कोई गलत काम हमारे सामने नहीं करता। तब मुनि ने कहा–डोर तुम्हारे हाथ में आ गई। पूरा समझा दिया।

पिता-पुत्र दोनों घर आ गए। शाम का समय हुआ, बेटा बाहर जाने लगा, पिता ने कहा–कहां जा रहे हो? वह भी पक्का था। झूठ तो नहीं बोलूंगा। पिताजी शराब पीने जा रहा हूं। बाद में जब समय हुआ तो फिर जाने लगा। पिता बोला–कहां जा रहे हो? वेश्या के यहां जा रहा हूं। ऐसे दो-तीन बार पूछा। इतना शर्मिंदा हो गया। सोचा–यह तो समस्या हो गई। मुनि ने तो मुझे पकड़कर बांध लिया, त्याग दिला दिया। अब तो मैं बंध गया। भला पिता के सामने बार-बार ऐसी बातें कैसे कहूं? ये सब तो छुपकर करने के काम हैं। धीरे-धीरे सारी आदतें समाप्त हो गईं। एक सत्य ने उसको बचा लिया।

साधना का प्रारंभ सत्य से

सत्य एक चाबी है, जिससे अच्छाई का ताला खोला जा सकता है। हर आदमी में लज्जा होती है, उस लज्जावश वह झूठ नहीं बोलता है। अपने आप सोचेगा कि अब यह काम भी मुझे छोड़ देना चाहिए, नहीं करना चाहिए। एक समाधान की बात हमारे सामने आती है। इसीलिए हम सोचें, व्रत की बात करें तो पांच व्रतों को स्वीकार करना है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यानी इच्छा परिमाण व्रत को स्वीकार करना है, पर प्रारंभ में किसकी साधना करें? इस पर ध्यान देना है। साधना की शुरूआत कहां से करें? पहला बिंदु पकड़ें और वहीं से हम शुरू करें और वह है सत्य। हम सत्य की साधना शुरू करें। एक बार उसका प्रयोग होना चाहिए। कोरा संकल्प ले लिया कि मैं अणुव्रत का नियम स्वीकार करता हूं, इतना पर्याप्त नहीं है। साथ में प्रयोग भी करना चाहिए। एक दिन का प्रयोग करें। आज के सूर्योदय से लेकर अगले दिन के सूर्योदय तक मैं बिल्कुल झूठ नहीं बोलूंगा। एक संकल्प कर लिया। एक दिन का अभ्यास, दो दिन का अभ्यास, ऐसे प्रयोग करते रहें। इसी प्रकार अहिंसा का प्रयोग करें कि आज मैं विशेष सावधानी रखूंगा कि मेरे द्वारा किसी की हिंसा न हो, प्राणवध न हो। ऐसे प्रयोग करें।

व्रत को स्वीकार करना अच्छी बात है। व्रत को पकाना और अच्छी बात है। उसका अभ्यास बराबर चलना चाहिए। बहुत बार व्रत का स्वीकार तो हो जाता है, बाद में पूरा याद भी नहीं रहता, ध्यान भी नहीं जाता, क्योंकि उसको पकाया नहीं जाता। जब तक पकाया नहीं जाता, घड़ा कच्चा रहता है, मिट्टी का लोंदा ही रह जाता है। पकाने की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। चावल भी सिझाते हैं, अनाज को भी सीझा कर खाते हैं। सबको आग पर पकाते हैं। केवल व्रत

ही ऐसा है, जिसको स्वीकार कर पेटी में रख दिया जाता है। फिर उस पेटी को कभी न खोलें, यह अच्छा नहीं होता।

जरूरी है अभ्यास

साधना की दिशा में गतिमान व्यक्ति साधना के एक-एक पहलू पर विचार करे। मैंने कौन-सा व्रत लिया है। वह मेरा व्रत कच्चा है या पक गया ? कच्चा फल खट्टा होता है, इसलिए उसको पकाना पड़ता है। पकाने की बात है अभ्यास। एकाग्रता का अभ्यास, ध्यान का अभ्यास, संकल्प का बार-बार प्रयोग। हमने नियम बहुत ले लिए, पर याद नहीं रहता। बार-बार उस पर ध्यान दिया जाता है, तब वह परिपक्व होता है। हम सबसे पहले सत्य को पकड़ें। साधना की दृष्टि से सत्य पर विशेष ध्यान दें और उसका अभ्यास करें। अभ्यास के द्वारा उसको परिपक्व करें तो विश्वास है कि वह व्रत हमारी बहुत सारी मानसिक और भावनात्मक समस्याओं को सुलझाने में, पारस्परिक व्यवहार को अच्छा बनाने में बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

21. सत्य से संकल्प सिद्धि

एक यूनानी संत समुद्र की यात्रा पर गया। वह सत्य की खोज में लगा हुआ था। किसी प्रश्न में उलझ गया। जब कोई प्रश्न सुलझता नहीं है तो मन में तनाव पैदा होता है, आदमी बेचैन हो जाता है। वह संत भी कुछ बेचैन था, तट पर गया तो देखा एक बालक खड़ा है, उसके हाथ में एक प्याली है। संत ने उसे देखा और कहा–बच्चे! तुम उदास लग रहे हो, क्या सोच रहे हो? वह बालक बोला–मुझे मत पूछो, मुझे तो तुम स्वयं उदास लग रहे हो। पहले तुम बताओ कि तुम्हारी उदासी का क्या कारण है? उसने कहा–बताऊंगा, पर तुम तो बता दो कि तुम उदास क्यों हो? तुम छोटे हो, बच्चे हो, अभी उदास क्यों हो? उसने कहा–नहीं, पहले तुम ही बताओ। संत ने कहा–मैं सत्य की खोज में निकला हुआ हूं, कितने समय से सत्य को खोज रहा हूं, लेकिन वह मुझे मिल नहीं रहा है, इसलिए मन में तनाव आ गया, उदासी आ गई। अब तुम बताओ। बच्चा बोला–मेरी उदासी का कारण यह है कि मैं इस प्याली में समुद्र को भरना चाहता हूं, पर इसमें समुद्र समा नहीं रहा है, इसलिए उदास हूं। संत ने कहा–बड़े भोले बालक हो तुम। समुद्र इतना विशाल है। तुम्हारी छोटी-सी प्याली में कैसे समाएगा? बच्चा बोला–सत्य भी इतना ही विशाल है, तुम्हारे छोटे-से दिमाग में कैसे समाएगा? न तो प्याली में समुद्र समाता है और न ही छोटे-से दिमाग में सत्य समाता है। सत्य के लिए भी एक विशाल चेतना की जरूरत है। जब तक वह विशाल चेतना अथवा अतीन्द्रिय चेतना जागृत नहीं होती, तब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं होता।

सत्यसंधान के बाधक तत्व

जब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक समस्या का समाधान भी नहीं होता। जितनी उलझने हैं, जितनी समस्याएं हैं, वे मिथ्या दृष्टिकोण या मिथ्या चरित्र के कारण हैं। समस्याओं के दो बड़े कारण हैं–मिथ्या दर्शन अर्थात् मिथ्या दृष्टिकोण और मिथ्या चरित्र अर्थात् अनैतिक व्यवहार। इन कारणों को ध्यान में रखकर ही आगमकारों ने लिखा–**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**

मेत्तिं भूएसु कप्पए–स्वयं सत्य की खोज करो और सबके साथ मैत्री करो। सत्य की खोज का एक बड़ा आधार बनता है संकल्प। संकल्प के बिना नई सृष्टि नहीं होती। सृष्टि का जो विकास और सृजनधर्मिता का जो भी कार्य है, वह संकल्प के साथ चलता है। आजकल तो बिना Architect के कोई मकान भी नहीं बनता। पुराने लोग तो बना लेते थे। आज तो पहले Architect आए और वह सारा नक्शा बनाए, तब कोई भवन खड़ा होता है।

कल्पना और संकल्प की दूरी मिटे

प्रारंभ में कल्पना होती है और जब कल्पना समग्र बन जाती है तो वह हमारा संकल्प बन जाता है। आज संकल्प-शक्ति कमजोर है, इसलिए समस्याएं उग्र बन रही हैं। यदि संकल्प-शक्ति मजबूत हो तो समस्याएं भी छोटी बन जाएंगी। संकल्प-शक्ति की कमी में छोटी समस्या भी बड़ी बन जाती है। संकल्प-शक्ति प्रबल है तो बहुत बड़ी से बड़ी बात छोटी बन जाती है। यह हमारी कमी है कि संकल्प-शक्ति का विकास नहीं है। आदमी का मन इतना चंचल है कि वह एक मिनट में एक बात सोचता है और दूसरे मिनट में बात दूसरी हो जाती है। इसलिए सारा व्यवहार आश्वासन में चल रहा है। बड़े लोग आते हैं और आश्वासन देकर चले जाते हैं। समस्या का कोई समाधान नहीं निकलता।

समस्या का समाधान है नया सृजन, नई सृष्टि। ईश्वर ने सृष्टि बनाई। कोई ईश्वर को मानता है तो कोई नहीं भी मानता, पर मुझे लगता है कि हर आदमी सृष्टि का निर्माण कर रहा है। कितने पदार्थ बने हैं, निर्माण किसने किया? एक-एक वस्तु पर विचार करें तो निर्माता का कौशल स्वतः मुखर हो उठता है। जो हमें दिखाई दे रहा है, उसका निर्माता कौन है? आदमी है। आदमी ने कल्पना की, आदमी ने सामग्री जुटाई, संकल्प किया और एक पदार्थ सामने आ गया। सृजनकर्ता कौन? सृजनकर्ता वही है, जो प्रत्यक्ष है। एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जहां आदमी का कोई कर्तृत्व न हो। प्राकृतिक वस्तु को हम छोड़ दें। बादल को आदमी ने नहीं बनाया। बादल आदमी की सृष्टि नहीं है। कुछ प्राकृतिक बातें होती हैं, किंतु जितना पदार्थ-जगत है, वह सारा आदमी का बनाया हुआ है। इस पदार्थ-जगत का निर्माण किसके द्वारा हुआ? संकल्प-शक्ति के द्वारा हुआ। यदि हम संकल्प-शक्ति का विकास करें तो बहुत कुछ किया जा सकता है। बहुत सारी समस्याएं सुलझ सकती हैं। संकल्प-शक्ति दृढ़ तब होती है जब दृष्टिकोण सही बनता है।

सत्य के प्रति विनम्र बनें

वंदे सच्चं–यह एक अमृततुल्य वचन है कि सदा सत्य के प्रति नत रहो, सत्य से युक्त रहो। मिथ्या पर मत चलो। एक समय था, कुछ लोग इतने

सत्यवादी होते थे कि जो कह दिया, जब तक पूरा नहीं होता, तब तक सुख की सांस नहीं लेते। इतना ही नहीं उसके पीछे प्राण भी गंवा देते। जो कह दिया, वह बात होनी चाहिए। वह बात यथावत रहे, उसमें कोई अंतर न आए। यह मान्यता थी कि जो कही हुई बात है, उसमें अंतर आता है तो सदाचार नहीं रहता।

रामायण का प्रसंग है। एक ओर सीता का अपहरण हो गया तो दूसरी ओर लक्ष्मण को शक्ति लग गई। चारों ओर सेना में अफरातफरी मची हुई थी, उस समय राम से पूछा गया–प्रभो! आपकी क्या मनःस्थिति है? राम ने कहा–मेरे पिता अयोध्या में रह गए, मुझे इस बात का कोई मोह नहीं है। माताएं वहां रह गईं, कोई बात नहीं है। भरत वहां रह गया, इसका मुझे कोई अफसोस नहीं है। लक्ष्मण के शक्ति लग गई, मूर्च्छा में पड़ा है, इस बात का भी मुझे कुछ विचार नहीं है, केवल एक बात का विचार है, वह यह है–**तारण-भूमि में राम कहे, मुझे दुःख विभीषण भूप कह्या को–** मैंने विभीषण को कह दिया–आओ लंकेश! लंका के अधिपति, तुम आओ और मैं उसे अभी तक लंका नहीं दे सका, मुझे इस बात का कष्ट हो रहा है। यह है संकल्प-शक्ति का प्रभाव। जब इतनी संकल्प की दृढ़ता हो कि जो वचन निकल गया, चाहे प्राण चला जाए, मुझे उसको निभाना है, तभी सफलता मिल सकती है। जहां यह हो कि मूंछ ऐसे हो या वैसे, क्या फर्क पड़ता है, वहां कोई काम नहीं होता। लचीला होना अच्छी बात है, किंतु जहां कार्य सिद्धि का प्रश्न है, कौशल का और दक्षता का प्रश्न है, वहां लचीलापन नहीं, वहां तो मजबूत होना जरूरी होता है। संकल्प इतना दृढ़ हो कि जो कहा, वह मुझे करना है और करके रहूंगा। संस्कृत साहित्य में इसका बहुत बार उच्चारण किया जाता है।

कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि।

मैं अपने कार्य को सिद्ध करूंगा, अन्यथा शरीर को भी छोड़ दूंगा। जब तक कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब तक करता रहूंगा, बीच में नहीं छोडूंगा, अधूरा नहीं छोडूंगा। आज अपेक्षा इस बात की है कि संकल्प की दृढ़ता उन लोगों में हो, जिनके हाथ में सत्ता है, जिनके हाथ में शक्ति है और जिनके हाथों में राष्ट्र के भाग्य की डोर है। उनके मन में इतना मजबूत संकल्प हो कि जो आश्वासन दिया, जो वादा किया, उसे यथासंभव पूरा करना ही है।

संकल्प दृढ़ बने

एक आदमी कष्ट की अवस्था में कोई संकल्प करता है, कोई कामना करता है, वह संकल्प कष्ट की अवस्था में तो याद रहता है, पर जैसे ही कष्ट

समाप्त होता है सुख-सुविधा के क्षण लौट आते हैं अथवा सामने कोई कठिनाई नहीं रहती है तो व्यक्ति उस संकल्प को भूल जाता है। कष्ट काल में जो विचार है अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सत्ता और शक्ति न होने पर जो विचार है, सत्ता मिलने पर वही विचार रह जाए तो समस्या का काफी समाधान हो सकता है, किंतु सत्ता मिलने पर विचार बदल जाता है, चेतना बदल जाती है।

एक बूढ़ा आदमी जंगल में लकड़ी काटता था। वह भार लेकर जंगल से आ रहा था। मार्ग में वह परेशान हो गया। उस समय बोला–हे यमराज! इसी समय आ जाओ, मुझे ले जाओ। मैं कितना दुःख पा रहा हूं। भगवान उठाले, कितना अच्छा हो जाए। संयोग की बात है, उसी समय यमराज आ गया, आकर बोला–तुमने याद किया, इसलिए आ गया हूं, बोलो, क्या चाहते हो? उसने ज्योंहि यमराज को देखा और डर गया, डरकर बोला हुजूर! मैंने तो इसलिए याद किया था कि लकड़ियों का गट्ठर उठ नहीं रहा है, इसे उठाकर मेरे कंधे पर रख दो। यथार्थ सामने आता है, विचार बदल जाता है, चेतना बदल जाती है।

हमारे विचारों में स्थायित्व नहीं है। वे बदलते रहते हैं। एक स्थिति के साथ एक प्रकार का विचार रहता है, दूसरी स्थिति में दूसरे प्रकार के विचार हो जाते हैं। जिसका विचार स्थायी होता है और यह होता है कि मैंने जो लक्ष्य बनाया, उसे मुझे पूरा करना है और जब तक वह पूरा न हो, तब तक मैं दूसरा काम नहीं करूंगा। वह निश्चित अपनी मंजिल तक पहुंच जाता है। सोचना सत्य, बोलना सत्य और करना सत्य–तीनों सत्य जुड़े हुए हैं। जैसा सोचना, वैसा बोलना। जैसा बोलना, वैसा करना। सत्य की एक शृंखला बनती है। एकात्मकता बनती है, किंतु यह सरल नहीं, बड़ा कठिन काम है। एक आदमी ऐसा है, जिसकी चेतना का विकास नहीं हुआ है। उसका मन एक प्रकार का होता है। वाणी दूसरे प्रकार की होती है और कर्म तीसरे प्रकार का होता है। तीनों में कहीं सामंजस्य नहीं होता, ऐसे लोग कोई बहुत बड़ा कार्य नहीं कर सकते। न अपना भला कर सकते हैं, न समाज का और न राष्ट्र का भला कर सकते हैं।

जो कहें वही करें

वह आदमी सफल हो सकता है, जिसका चिंतन, कथनी और करनी–तीनों में सामंजस्य होता है। तीनों में सामंजस्य नहीं होता तो अंतर आ जाता है। एक पति ने अपनी पत्नी से पूछा कि आज रात को दस बजे से बारह बजे तक तुम क्या कर रही थी? इतनी बातें किससे कर रही थी? पत्नी बोली–मेरी पड़ोसिन आ गई थी, उससे बात कर रही थी। वह मुझे मौन का महत्व समझा रही थी।

कितनी विचित्रता है? मौन का महत्व बताने के लिए दो घंटे का समय चाहिए। मौन को वैसे भी समझाया नहीं जा सकता। मौन को तो करके ही समझाया जा सकता है, किंतु जीवन में एक विरोधाभास चलता है। आज की विडंबना यही है कि जो कहा जाता है, वह किया नहीं जाता। आज सत्य एक साथ नहीं चल रहा है। मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य–तीनों एक साथ चले तो कार्य में सफलता मिलती है और आदमी बहुत बड़ा कार्य कर सकता है, पर तीनों एक साथ नहीं रहते। व्यक्ति सोचता तो बहुत अच्छा है, पर करते समय कुछ भी याद नहीं रहता। इस दूरी के कारण धार्मिक लोग भी सत्य के साथ नहीं रहते, मिथ्या-आचार में चले जाते हैं। मिथ्या चिंतन, मिथ्यावाद और मिथ्या आचार के कारण शायद समस्याएं भी बढ़ती हैं और लोग कष्ट भी भोगते हैं।

एक दिन एक व्यापारी ने अपने कर्मचारी को फोन किया और कहा–देखो, आज से एक संकल्प करो कि तुम गेहूं में कंकड़ नहीं मिलाओगे, चीनी में मिलावट नहीं करोगे और घी में भी मिलावट नहीं करोगे। वह बोला–हुजूर! रोज तो आप खुद मुझे सिखाते हैं। आज आप मना कर रहे हैं, क्या बात है? क्या हुआ? आप कहां से बोल रहे हैं? वह बोला–मैंने इसे समझ लिया कि ऐसा करना अच्छा नहीं है। कर्मचारी ने पूछा–पहले यह बताएं कि आप कहां से बोल रहे हैं? बोला–मैं जेल से बोल रहा हूं। घर में था तो विचार एक प्रकार का था। अपराध में पकड़ा गया, जेल में चला गया तो विचार बदल गया। कितना अच्छा होता पहले से ही अच्छे विचारों में रहता। पहले से ही अपने आचरण के प्रति सजग होता तो शायद जेल की यात्रा करनी नहीं पड़ती। बहुत सुंदर बात कही गई है–**सत्य पर चलो, श्रेष्ठ बनो।**

अच्छा काम करना है, सफल होना है तो सत्य के साथ रहो, मिथ्या में मत जाओ। प्रत्येक नागरिक का यह संकल्प हो जाए कि मैं सत्य के साथ जीवन जीऊँगा, मिथ्या आचार को प्रश्रय नहीं दूंगा, मिथ्या भाषण नहीं करूँगा और मिथ्या चिंतन भी नहीं करूँगा। सदा सत्य के साथ रहूंगा तो शायद बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

आचार : परम रसायन

एक प्रश्न पूछा गया–च्यवनप्राश, ब्रह्मरसायन, आमलकी रसायन आदि सैकड़ों प्रकार के रसायन होते हैं। सबसे श्रेष्ठ रसायन कौन-सा है? आयुर्वेद के महान आचार्य चरक कहते हैं–आचार सबसे बढ़िया रसायन है। अगर आपका आचार अच्छा नहीं है तो चाहे जितना च्यवनप्राश लें, ब्रह्मरसायन लें, आप

स्वस्थ नहीं रह सकेंगे। अगर स्वस्थ रहना चाहते हैं तो आचार के रसायन का सेवन करें। उसके साथ कभी आवश्यकता हो तो फिर दूसरे रसायनों का भी प्रयोग कर सकते हैं। इससे लाभ होगा, अन्यथा लाभ नहीं मिलेगा।

यदि मुझे कोई पूछे कि आज सबसे बढ़िया दवा कौन-सी है, जिससे आदमी स्वस्थ रह सके, समाज स्वस्थ रह सके तो मैं कहना पसंद करूँगा कि अणुव्रत से बड़ा कोई रसायन और दवा मेरी दृष्टि में नहीं है। प्रयोग के लिए हम सौ व्यक्तियों को लें और दो ग्रुप बना लें। एक Control Group और एक Experimental Group। पचास आदमी अणुव्रत के साथ जीवन जी रहे हैं और पचास आदमी खूब बेईमानी के साथ जी रहे हैं। जब उनका स्वास्थ्य की दृष्टि से भी परीक्षण करेंगे तो यह Result होगा कि पचास आदमी, जो Control Group के हैं, वे तो डॉक्टरों के सहारे जी रहे हैं और दुःख के साथ जी रहे हैं। पचास आदमी, जो Experimental Group के हैं, वे बड़े आनंद के साथ जी रहे हैं। बुराई की चेतना आदमी को बीमार बनाती है। बीमारी का बहुत बड़ा कारण हमारे भाव हैं। आज के वैज्ञानिकों ने इस सचाई को बहुत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है कि हमारी नकारात्मक भावधारा बड़ी-बड़ी बीमारियों को पैदा करती है। अगर हम इससे बचते रहें तो बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

आज यह बात धार्मिक लोगों को भी समझ में नहीं आ रही है। आज धर्म की परिभाषा दूसरी बन गई है। कर्मकांड करो, धर्म हो गया। वास्तव में सचाई के साथ जीना सीखो, यह धर्म की मूल आधार नीति है। सचाई के साथ जीओ, मिथ्या आचार में मत जीओ, यह बात समझ में आए तब कुछ हो सकता है। दूसरी बात है–**मेत्तिं भूएसु कप्पए**, जो व्यक्ति सचाई के साथ जीता है, वही व्यक्ति सबके साथ मैत्री कर सकता है। मैत्री की भावना के द्वारा बहुत सारी समस्याएं सुलझ जाएंगी। तनाव नहीं होगा और तनाव से पैदा होने वाली बीमारियां भी कम हो जाएंगी। एक बड़ा प्रयोग है मैत्री की भावना। हम लोग प्रेक्षाध्यान में मैत्री की अनुप्रेक्षा कराते हैं, उससे दिमाग स्वतः हल्का होता है। जब दिमाग तनावों से मुक्त होता है, तब रोगों का भी अपने आप उपचार हो जाता है, क्योंकि तनाव तब आता है जब दिमाग में मैत्री नहीं होती। चिकित्सा जगत को भी लें तो पाएंगे कि चिकित्सा करने वाले भी जब रोगी की चिकित्सा करते हैं तो वहां एक सहायता की भावना, सहयोग और मैत्री की भावना दृष्टिगत होती है। वर्तमान की स्थिति यह है कि चिकित्सा-जगत में भी सेवा गौण और पैसा प्रमुख हो गया है। मैंने कुछ घटनाएं सुनी तो आश्चर्य में रह गया और सोचने लगा कि सेवा का भाव कहां चला गया?

सन 1994 की बात है। आचार्य तुलसी दिल्ली में विराज रहे थे। डॉक्टर कुचेरिया से कहा कि डॉक्टरों का ऐसा कोई कार्यक्रम बनाओ, जिससे डॉक्टर अणुव्रती बनें, नैतिकता के साथ कार्य को संपादित करें। उन्होंने कहा–मैं प्रयत्न करूँगा। कुछ दिन बाद वे आए और बोले–यह संभव नहीं लगता, बड़ी कठिनाई है। पैसा इतना प्रमुख बन गया कि नैतिकता की बात सुनने का किसी को समय ही नहीं है। एक डॉक्टर रोगी के पास गया और बोला–देखो, मैं जो दवा देता हूँ, वह दवा लो। ये गोलियां लो, यह Injection लो, यह सारा Course लो, पसीना आएगा, तुम्हारी बीमारी समाप्त हो जाएगी। रोगी बोला–डॉक्टर साहब! पहले बिल बता दो, बिल देखकर ही पसीना आ जाएगा। शायद दवा लेने की जरूरत ही नहीं रहेगी। जहां इस प्रकार की वृत्ति बनती है। ऐसा व्यवहार होता है। वहां सेवा और संवेदनशीलता नहीं होती, कोरा स्वार्थ होता है। करुणा और मैत्री की कमी होने से मानवता का मूल्य भी कम हो जाता है।

सबसे बड़ा प्राण है धन

कोई-कोई आदमी इतना क्रूर होता है कि दूसरों का प्राण हरण तक कर लेता है। दूसरों का शोषण करने वाला, दूसरों को सताने वाला मारने वालों से कम नहीं होता। एक आदमी किसी की हत्या करता है और एक आदमी किसी का धन लूट लेता है। दोनों में ज्यादा अंतर नहीं है, क्योंकि धन को कहा गया है ग्यारहवां प्राण। दस प्राण तो मूल बतलाए गए हैं, यदि धन है तो वह ग्यारहवां प्राण है। जब कोई ग्यारहवां प्राण लूटता है तो दस प्राण भी टिकते नहीं। वे भी उसके साथ चले जाते हैं। न जाने कितने लोग इस प्रकार मर जाते हैं। आदमी में लोभ तो होता ही है, धन को बचाने का लोभ होता है। एक दिन एक सेठ के घर में डाकू आए और बोले–सेठजी! हम डकैत हैं। आपके लिए दो ही रास्ते हैं या तो धन की चाबियां दे दो या मरने के लिए तैयार हो जाओ। सेठ बोला–धन तो रहने दो, बुढ़ापे में काम आएगा, मारना हो तो भले ही मार दो। धन रूपी प्राण का हरण करने वाला क्या हत्या करने वाले से कम है? प्रत्यक्ष में तो हत्यारा उसे मानते हैं, जो गोली चलाता है, किंतु दूसरे के सर्वस्व को लूटने वाला शायद हत्यारे से कम नहीं होता। अगर मैत्री की चेतना विकसित हो तो ऐसा कार्य कभी नहीं हो सकता, लेकिन आज स्वार्थ इतना हावी हो गया और इतना लोभ हो गया कि वह दूसरे की पीड़ा को देखकर भी अनदेखा कर देता है। वह अनुभव नहीं करता कि सामने वाला भी मेरा जैसा ही प्राणी है, वह भी पीड़ा का अनुभव करता होगा।

संकल्प सत्य और मैत्री का

हिन्दुस्तान को स्वतंत्रता मिले आधी सदी से ज्यादा समय हो गया है, पर हम स्वतंत्रता का सही मूल्यांकन नहीं कर पाए। स्वतंत्रता का मूल्यांकन करना

है तो दो संकल्पों पर विचार करना होगा–सत्यनिष्ठा और मैत्री। यदि सत्य के प्रति निष्ठा या सत्य के साथ जीने का संकल्प नहीं है और मैत्री का प्रयोग नहीं है तो स्वतंत्रता मूल्यहीन हो जाएगी। स्वतंत्रता का आनंद तभी आ सकता है कि जब मैत्री की भावना हो और सत्य के साथ जीने का संकल्प हो। आचार्य तुलसी ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस पर रतनगढ़ में एक गीत बनाया था–'असली आजादी अपनाओ'। आजादी के दो रूप बन गए –एक तो असली और दूसरा नकली आजादी। आज तो सारा नकली चल रहा है। इसलिए समस्याएं सुलझने के बजाय उलझ रही हैं। जो समस्याएं पचास वर्ष पहले थीं, जिनको जड़ से उखाड़ कर फेंकने की बात कही जाती थी, आज वे समस्याएं ज्यादा जड़ जमाती जा रही हैं। इसका कारण यही है कि सत्य के साथ जीने का संकल्प नहीं है और मैत्री की चेतना का विकास नहीं है। धार्मिक लोग अवश्य चिंतन करें कि उन्हें सत्य के साथ जीने का संकल्प करना है। धार्मिक है और सचाई के साथ जीने का संकल्प नहीं है तो उसे धार्मिक कहने में भी संकोच होता है।

धार्मिक कौन?

आज छह अरब जनसंख्या वाली दुनिया में यदि धार्मिकों की सूची बनाई जाए और उसमें पांच करोड़ भी धार्मिक मिल जाए तो बहुत बड़ी बात है। एक बहुत बड़ी खाई है, उसे कैसे पाटा जाए? इस खाई के कारण ही भ्रष्टाचार को पनपने का मौका मिल रहा है। घोटालों को आकाश छूने का मौका मिल रहा है। अगर यह स्थिति रहती है तो स्वतंत्रता का अर्थ समझने में भी जरा कठिनाई हो जाती है। जो देश दुनिया को सदाचार का संदेश देने वाला रहा है, वह भ्रष्टाचार की सूची में अग्रणी हो तो इससे बढ़कर चिंता की बात क्या होगी? इस स्थिति से ऊपर उठना है तो उक्त दोनों संकल्पों पर ध्यान केन्द्रित करना होगा।

आर्ष-वाणी अनुभव-वाणी बने

पहला संकल्प हो–मैं सदा सत्य के साथ जीऊँगा। दूसरा संकल्प हो–प्राणी मात्र के साथ मैत्री रखूंगा, मित्रता का व्यवहार करूँगा। ये दो संकल्प अगर परिपुष्ट होते हैं तो बहुत सारी समस्याएं सुलझ सकती हैं और सारा दृश्य बदल सकता है। यह आर्ष वाणी अनुभव की वाणी है और उस अनुभव से निकले हुए दो मुख्य सूत्र हैं–सत्य और मैत्री। उन पर मनन करें और संकल्प करें तो सचाई की ओर आगे बढ़ने का और समस्याओं को सुलझाने का एक रास्ता हाथ लगेगा और उस रास्ते पर चल कर आदमी स्वयं को, समाज को, राष्ट्र को और अधिक अच्छा बना सकता है और उत्तम कोटि की श्रेणी में ले जा सकता है।

22. धर्म : सत्य की अनुभूति

मैं एक शब्द पर बहुत विश्वास करता हूं और वह शब्द है सत्य। अगर हम सत्य को समझ सकें तो यथार्थ का जीवन जी सकते हैं, उसे बहुत उच्च और सरस बना सकते हैं। यदि हमारा सत्य में विश्वास नहीं है तो जीवन नीरस हो जाएगा।

सत्यानुभूति : धर्म

धर्म का मतलब यही है कि हम सचाई को समझें। यदि कोई मुझे पूछना चाहे कि धर्म क्या है? मैं एक शब्द में कहना चाहूंगा कि जितनी सत्यानुभूतियां हैं, वह धर्म है और जितनी अन्य अनुभूतियां हैं, वे समस्याएं हैं। सत्य ही धर्म है। सत्य और धर्म को कभी अलग नहीं किया जा सकता, दोनों वस्तुतः एक ही बात है। हम धर्म को समझने का प्रयत्न करें, इसका मतलब है सत्य को समझने का प्रयत्न करें। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था–**सच्चं भयवं**–सत्य भगवान है। इसी शब्द को महात्मा गांधी ने भी दोहराया था। जो यूनिवर्सल है, वही सत्य है, वही धर्म है।

जब हिन्दुस्तान आजाद हुआ था तब एक राष्ट्रीय घोष हुआ–**सत्यमेव जयते।** आज भी वह प्रचलित है। इस संदर्भ में आचार्य तुलसी के सामने बहुत सारे प्रश्न आए। उनको पूछा गया–इस बारे में आपका क्या मत है? क्या **सत्यमेव जयते** सही है? बहुत बार लगता है कि न्यायालय में झूठ की विजय ज्यादा हो रही है, सत्य की कम। सच्चा व्यक्ति हार जाता है, झूठा जीत जाता है। आचार्यवर ने कहा–इसको ठीक समझो। महावीर की वाणी है–**सच्चं लोयम्मि सारभूयं।** लोक में सबसे बड़ा सार है, वह सत्य है और उस सत्य की ही विजय होती है।

विजय तो कभी-कभी झूठ की भी हो जाती है। बहुत सारे मामले, केस कोर्ट में चलते हैं। वहां झूठ जीत कर आ जाता है, सत्य जेल में चला जाता है। सत्य की जय बड़ा कठिन काम है, लेकिन सत्य जीवन का नवनीत है, यह

असंदिग्ध बात है। सत्य बोलना अच्छा है, पर किसी को सच्ची बात कह कर देखो, क्या होता है? लड़ाई शुरू हो जाएगी, मारपीट शुरू हो जाएगी।

एक बड़ी मार्मिक कहानी है। एक व्यक्ति ने चार तोते पाले। बड़े समझदार और प्रशिक्षित तोते थे। एक दिन चारों आपस में बात करने लगे। एक तोता बोला–हमारे मालिक के पास बहुत जायदाद है, पर सब पाप की कमाई है। मालिक पास में बैठा था। उसे थोड़ी बात सुनाई दे दी। अपने नौकर से पूछा–तोते ने क्या कहा? नौकर बोला–इसने तो यह कहा है कि हमारे मालिक की जायदाद तो बहुत बड़ी है, पर यह पाप की कमाई है।

मालिक ने कहा–इसको मार डालो। उस तोते को मार दिया गया।

दूसरा तोता बोला–साथी को सत्य बोलने के कारण मरवाया गया है। यह बहुत बड़ा अन्याय है। मालिक ने फिर पूछा–इसने क्या कहा? नौकर ने सारी बात बताई। मालिक बोला–इसको भी मार डालो, यह भी खतरनाक है।

तीसरे तोते ने सारी घटना देखी। वह बोला–आंखों से देखो, कानों से सुनो, पर बोलो मत। बोलना खतरनाक है। सही कहने का परिणाम है मृत्यु। मालिक ने नौकर से पूछा–तीसरा तोता क्या बोलता है? नौकर बोला–यह कह रहा है–देखो, सुनो, पर बोलो मत। बोला–यह भी काम का नहीं है। इसे भी मरवा डालो। उसे भी मरवा दिया गया।

चौथे तोते ने देखा–यहां तो बात गड़बड़ा रही है। वह बोला–मेरा मालिक बहुत दयालु है, समझदार है। यह दुकान में मिलावट करता है। मिलावट का धान खाने वाले जल्दी मरते हैं। आबादी कम होती है, देश का भला होता है। परिवार नियोजन वाले तो आबादी को घटा पाएंगे या नहीं घटा पाएंगे, पर यह तो आबादी घटा देगा। ऐसा दयालु मालिक मिलना मुश्किल है। सेठ ने फिर पूछा–चौथा तोता क्या कह रहा है? यह बहुत अच्छा बोल रहा है। यह कह रहा है–मेरा मालिक बहुत दयालु है। सेठ ने कहा–कल से इसका चुग्गा पानी बढ़ा दो। खूब अच्छी तरह से इसका पालन पोषण करो। यह है सत्य बोलने का परिणाम। इस दृष्टि से विचार करें तो कहा जा सकता है कि सत्य की साधना बहुत कठिन है, लेकिन सत्य हमेशा सत्य रहेगा। उसकी मूल्यवत्ता सदा थी, है और रहेगी।

एक अर्थपूर्ण वचन है–**सत्य लोक में सारभूत है**। चाहे तुम बोलो या मत बोलो सार वही होगा, जो सत्य है। असत्य कभी सार नहीं होगा। असत्य

का प्रयोग व्यक्ति की दुर्बलता है, कमजोरी है, पर वह कभी अच्छा नहीं हो सकता। इसलिए कहा गया–जहां तुम्हें सार की उपासना करनी हो वहां सत्य की उपासना करो।

यथार्थवाद

जैन दर्शन यथार्थवादी है, अर्थवादी नहीं है। हमारे दार्शनिक जगत में दो परंपराएं रही हैं–एक अर्थवादी परंपरा और एक यथार्थवादी परंपरा। अर्थवाद से तात्पर्य है बात को बढ़ा चढ़ा कर कहना। गुणगान करे तो इतना कि आकाश पाताल एक कर दे और निंदा करे तो इतनी कि आकाश को नीचे उतार कर रख दे, यह अर्थवाद होता है।

दूसरा होता है यथार्थवाद। आचार्य हेमचन्द्र ने महावीर की स्तुति में बहुत सुंदर बात लिखी–

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश! न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि।
तुरंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो, नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः॥

प्रभो! मैं आपको वंदना क्यों करूं? आपने कोई नया काम तो किया नहीं। कोई नया काम करे तो मैं उसको वंदना करूं, नमस्कार करूं। मैं तो उन पंडितों को नमस्कार करना चाहता हूं, जो घोड़े के भी सींग उगाते हैं। आपने ऐसा नहीं किया, आपने कभी घोड़े के सींग नहीं उगाए, कोई नया चमत्कार नहीं दिखाया। मैं उनको नमस्कार करता हूं, जिन्होंने चमत्कार दिखाया और नया काम किया है। आपने तो इतना ही किया है कि जो जैसा था वैसा बता दिया। अच्छे को अच्छा बता दिया। बुरी बात को बुरा बता दिया। सत् को सत् बता दिया और असत् को असत् बता दिया। एक मात्रा भी आपने हेर फेर नहीं की।

जैन दर्शन यथार्थवादी दर्शन है, उसने सत्य को सत्य बतलाया, जो जैसा था वैसा बतलाया और मैं मानता हूं कि दुनिया में महावीर का सबसे बड़ा अवदान है तो वह है यथार्थवाद।

जिस धर्म और दर्शन में प्राण शक्ति नहीं है, जिसमें यथार्थवाद का श्वास-उच्छवास नहीं है, वह हमारे लिए बहुत कल्याणकारी नहीं हो सकता, इसलिए यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाना बहुत जरूरी है। हमारा दृष्टिकोण सदा यथार्थवादी रहे।

23. शाश्वत सत्य और युगीन सत्य

जब से मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ है तब से सत्य की चर्चा चलती रही है। दर्शन की भूमिका पर सत्य की तीन धाराएं हैं–शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और शाश्वत-अशाश्वतवाद।

पहली धारा के प्रतिपादक कूटस्थ नित्यवादी हैं। वे मानते हैं कि मूल तत्त्व नितांत शाश्वत है, उसमें कहीं परिवर्तन का अवकाश नहीं है।

दूसरी धारा के प्रतिपादक क्षणिकवादी हैं। उनके अनुसार जो है, वह सब प्रतिक्षण परिवर्तित होता है।

तीसरी धारा के प्रतिपादक अनेकांतवादी हैं। वे प्रत्येक तत्त्व को शाश्वत और अशाश्वत–इन दोनों की युति के रूप में स्वीकार करते हैं।

मूल तत्त्व शाश्वत

भाषा के प्रयोग में स्पष्टता देश, काल और व्यक्ति के संदर्भ में ही आती है। उनके बिना पूर्ण अर्थ नहीं मिलता। 'मैं जाऊंगा' इसमें अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति तब तक नहीं होती, जब तक यह न कहा जाए कि अमुक गांव जाऊंगा, अमुक समय में जाऊंगा।

'अमुक व्यक्ति नहीं है'–इस वाक्य में उसका अस्तित्व तो है, पर जिस क्षेत्र में हम उसे देखना चाहते हैं, उस क्षेत्र में वह नहीं है, यह देशकृत अनित्यता है। 'अभी नहीं है' यह कालकृत अनित्यता है। जो वस्तु देश और काल से अबाधित होती है, वह शाश्वत है। शाश्वत हर देश और काल में उपलब्ध होता है। जितने तत्त्व हैं, वे शाश्वत हैं। दुनिया में जितना था, उतना ही है और उतना ही रहेगा, न एक परमाणु घटता है और न एक परमाणु बढ़ता है। मूल तत्त्व शाश्वत हैं और विस्तार युगीन है।

अधिकांश धार्मिक अपने नियमों को शाश्वत मानते हैं। चिंतन किए बिना हर वस्तु को शाश्वत कहा जा सकता है, पर वस्तुवृत्या क्या कोई विस्तार

शाश्वत होता है? हम कहते हैं–धर्म शाश्वत है। आखिर धर्म स्वयं में क्या है? मनुष्य हर तथ्य को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। भाषा के आधार पर बने नियम और परिभाषा शाश्वत कैसे होगी, जबकि भाषा स्वयं अशाश्वत है? शाश्वत वह है, जो स्वाभाविक है। धर्म, जो आत्मा की सहज पवित्रता है, वह शाश्वत है। धर्म का प्रतिपादन करने के लिए जितनी परिभाषाएं और नियम बने हैं, वे शाश्वत कैसे हो सकते हैं? आज तक धर्म की जो परिभाषाएं बनी हैं, उनमें क्या कोई शाश्वत है? जो कृत होता है, वह शाश्वत नहीं होता। परिभाषाएं मनुष्यकृत हैं, इसलिए वे शाश्वत नहीं हो सकतीं। कहा जाता है–अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत हैं। प्रश्न है अहिंसा है क्या? जहां आकार होता है, वहां शाश्वतता समाप्त हो जाती है। अहिंसा आत्मा की सहजता है, वह शाश्वत हो सकती है।

विकास और परिवर्तन

संस्कार सदा अतीत की ओर ले जाता है। साम्यवादी, जो शास्त्र को नहीं मानते, वे भी शास्त्र की दुहाई देते हैं। महान विचारक माओ कहते हैं–रूस संशोधनवादी हो गया है, क्योंकि वह लेनिन की विचारधारा से हट गया है। एक ओर वे शास्त्र को अस्वीकार करते हैं और दूसरी ओर उससे चिपके हुए भी हैं। चीन ने सामंतशाही परंपरा को बदला, किंतु उस परिवर्तन में जो सिद्धांत काम में लिये गए, उन्हें शाश्वत मान लिया।

शंकराचार्य ने शास्त्र-वासना को काम-वासना की कोटि में रखा है। मनुष्य में शब्दों की पकड़ अधिक होती है। अतीत, अभ्यस्त और प्राचीन के प्रति मोह होता है। सद्यस्क के प्रति उतना लगाव नहीं होता, जितना चिरपुराण के प्रति होता है। वह वर्तमान में जीता है, पर वर्तमान की अपेक्षा अतीत को अधिक देखता है, इसलिए जो युग-सत्य है, उसे समझने में कठिनता होती है। जो वस्तु अपना कार्य कर चुकी, उसके प्रति हमारा सम्मान हो सकता है, पर उसकी नियामकता कैसे हो सकती है?

जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गई, उससे चिपके रहना बुद्धिमानी नहीं है। विकास उनमें होता है, जो परिवर्तन की बात सोचते हैं। अशाश्वत को शाश्वत मान उसमें परिवर्तन नहीं करते, वे रूढ़ बनकर कुछ खोते ही हैं।

24. सत्य, संप्रदाय और परंपरा

उन लोगों में सत्य की जिज्ञासा का दीप बुझ चुका है, जो मानते हैं कि हम वही कहें, जो कहते आए हैं, वही करें, जो करते आए हैं। ऐसा मानने वाले मानते हैं कि वे सत्य को पा चुके हैं। उनके लिए अब कुछ भी पाना शेष नहीं है, किंतु प्रश्न होता है कि क्या हम अशेष सत्य को पा चुके हैं? यदि पा चुके हैं तो हमारे लिए साधना अपेक्षित नहीं है। साधना की अपेक्षा इसीलिए है कि हम प्राप्त सत्य को स्वीकार करें और अप्राप्त सत्य को पाने की दिशा में प्रस्थान करें।

धार्मिक जगत में एक बहुत बड़ी आत्म-भ्रांति पनपी है। उसका आधार है आग्रह। अपनी मान्यता के प्रति वह आग्रह इस आकार में हो कि मैं मानता हूं वह सत्य है तो फिर वह निरापद भी हो सकता है, किंतु मैं मानता हूं उसके सिवा शेष सब मानते हैं, वह असत्य है–यह आकार निरापद नहीं है। आज अधिकांशतः यह आकार चल रहा है। इसीलिए संप्रदाय परस्पर-विरोधी बन रहे हैं।

संप्रदाय परंपरा के वाहक होते हैं। प्रभावशाली आचार्य की विचार-धारा का आकार संप्रदाय और उसका अनुगमन परंपरा हो जाती है। हर संप्रदाय और परंपरा का सत्यांश से संबंध होता है। कोई सत्य से अधिक संबद्ध होता है और कोई कम, किंतु पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति व्यक्ति के आत्मोदय में ही होती है। सत्य-जिज्ञासु मुख्य रूप से साध्योन्मुख होता है और गौण-रूप से साधनोन्मुख। सांप्रदायिक व्यक्ति मुख्य रूप से साधनोन्मुख होता है और गौण-रूप से साध्योन्मुख।

जरूरी है सत्य की जिज्ञासा

संप्रदाय में रहने वाला कोई सत्य-जिज्ञासु नहीं होता और संप्रदाय में न रहने वाला कोई अग्रणी या रूढ़ नहीं होता, यह मानना भी भ्रांति है। यदि संप्रदाय और सत्य-जिज्ञासा में विरोध होता तो आज तक या तो संप्रदाय का अस्तित्व मिट जाता या सत्य-जिज्ञासा निःशेष हो जाती। दोनों का अस्तित्व है। इसका अर्थ है कि संप्रदाय और सत्य-जिज्ञासा में विरोध नहीं है।

संप्रदायों में इसलिए विरोध नहीं है कि वे भिन्न विचारधारा के पोषक हैं, किंतु विरोध इसलिए है कि उनका अनुगमन करने वालों में सत्य की जिज्ञासा कम है।

यदि हम चाहते हैं कि संप्रदायों में समन्वय हो, सामंजस्यपूर्ण स्थिति हो, मैत्री हो तो हमें इस चाह से पहले यह चाह करनी चाहिए कि सांप्रदायिक लोगों में सत्य की जिज्ञासा प्रदीप्त हो। आज सत्य की जिज्ञासा कितनी मंद है, 'इसे मैं जैन संप्रदायों की वर्तमान मनोदशा से ही व्यक्त करूंगा।'

आज जैन साधुओं के आचार-व्यवहार में कोई थोड़ा-सा परिवर्तन आता है तो अनेक लोग संशयालु बन जाते हैं। उनके मुंह पर एक ही प्रश्न होता है–'यह कैसे हुआ? पहले तो ऐसा नहीं किया जाता था, अब कैसे किया जा रहा है?' अब ऐसा करना उचित है या अनुचित, यह प्रश्न कम होता है। उचित-अनुचित की मीमांसा की जा सकती है, पर पहले नहीं था और अब है' की मीमांसा नहीं हो सकती।

इस मनोदशा के कारण ही बहुत बार अपेक्षित परिवर्तन करने में भी जैन आचार्य सकुचाते हैं। परंपरा में प्राण हो, उसे बदलना बुद्धिमत्ता नहीं है, किंतु निष्प्राण परंपरा को चलाते रहना भी बुद्धिमत्ता नहीं है।

आज अनेक जैन मनीषी इस संदेह-दशा को पाल-पोष रहे हैं कि प्रस्तुत अर्थ परंपरा संगत नहीं है, फिर भी वे उसे बदलने में इसलिए सकुचाते हैं कि वह बहुत लंबे समय से चलती आ रही है। जो परंपरा काल की लंबी अवधि में पल-पुस जाती है, संस्कार की आंच में पक जाती है, वह शाश्वत सत्य जैसी अपरिवर्तनीय हो जाती है। सत्य की मांग भिन्न है। कोई भी कृत नियम अनंत या निरवधिक नहीं होता। जो कृत है, वह सावधिक होता है। निरवधिक वही है, जो अकृत है, स्वाभाविक है। देश, काल और परिस्थिति के संदर्भ से मुक्त कोई परंपरा नहीं है। हम पर्युषण (संवत्सरी) पर विचार करें। पर्युषण ढ़ाई हजार वर्ष पुरानी वर्षाकालीन स्थिति का सूचक है। आज उसके साथ अनेक कल्पनाएं जुड़ गई हैं। उन कल्पनाओं का परिणाम यह है कि आज वह विवादास्पद बना हुआ है। किसी परंपरा में उसके लिए चतुर्थी का दिन मान्य है तो किसी में पंचमी का और किसी में चतुर्दशी का। पंचमी को मान्य करने वालों में भी कोई उदित तिथि के अनुसार पंचमी को पर्युषण करता है तो कोई घड़ियों में आई तिथि के अनुसार चतुर्थी को ही पर्युषण कर लेता है। पर्युषण का मूल तत्त्व गौण हो गया है और वह कब होना चाहिए, यह प्रश्न मुख्य बन गया है। इस प्रकार

न जाने और भी कितने प्रश्न, जो गौण थे, वे मुख्य और जो मुख्य थे, वे गौण बने हुए हैं। इन प्रश्नों का समाधान परंपरा को सत्य से संबद्ध करने पर ही प्राप्त हो सकता है। जो सत्य हमें कल तक नहीं मिला, वह आज मिल सकता है और जो आज नहीं मिला, वह कल तक मिल सकता है। सत्य की शोध और उपलब्धि का क्रम तब तक चलता रहेगा, जब तक मनुष्य का अस्तित्व रहेगा।

आध्यात्मिक चेतना का जागरण

उपलब्ध सत्य के प्रति हम जितने आस्थावान हैं, उतने ही आस्थावान अनुपलब्ध सत्य के प्रति रहें तो हमारी अनेक समस्याएं सुलझ सकती हैं। सत्य की उपलब्धि का राजपथ आध्यात्मिक चेतना का जागरण है। हमारी आध्यात्मिक अनुभूति जितनी तीव्र होगी, उतनी ही हमारी बुद्धि आग्रहहीन होगी। आग्रह से बढ़कर सत्य का कोई सघन आवरण नहीं है। वह आध्यात्मिक भावना से अपरिष्कृत बुद्धि में पलता है। यदि हम चाहते हैं कि धर्म-संप्रदायों में एकता हो, वैमनस्य का विसर्जन हो तो आध्यात्मिक विकास की प्रक्रियाओं को प्राथमिकता दें। उनका विकास चाहे-अनचाहे एकता या समन्वय का विकास है और उनका ह्रास चाहे-अनचाहे एकता या समन्वय का ह्रास है।

25. नेतृत्व की कसौटी : सत्यनिष्ठा

मनुष्य एक विचारशील और विवेकशील प्राणी है। जिसके पास विचार और विवेक की शक्ति होती है, वह मिथ्या वचन से बचने का प्रयास करता है। मिथ्या बात भले ही मधुर हो, पर उसे शब्दों से अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए। कभी-कभी मिथ्या आश्वासन बहुत भारी पड़ता है। राजनीति के क्षेत्र में मिथ्या आश्वासन बहुत चलता है, लेकिन मैं इसे उचित नहीं मानता। धर्म के क्षेत्र में नेतृत्व की महत्त्वपूर्ण कसौटी है–सत्यनिष्ठा और सत्यवादिता।

धर्म और राजनीति

चर्चिल ने राजनीति के विषय में एक बात कही कि कुशल राजनीतिज्ञ कौन होता है? जो सुबह एक बात कहता है, दोपहर में दूसरी बात कहता है और शाम को तीसरी बात कहता है। इतना ही नहीं, वह सिद्ध कर देता है कि सुबह कहा वह भी ठीक था, दोपहर में कहा वह भी ठीक था और अभी शाम को कह रहा हूं वह भी ठीक है। राजनीति की बात कुछ अलग हो जाती है, किंतु जहां धर्म का क्षेत्र है वहां यह नहीं हो सकता कि सुबह अलग बात हो, दोपहर में अलग हो और शाम को अलग हो। वहां तो यथार्थ वचन एक ही होगा। जो सही बात है वही होगी, उसे बदला नहीं जा सकता। सत्य का अर्थ है यथार्थ वचन।

सत्य का दूसरा अर्थ है जो प्रतिज्ञा की उसका निर्वाह करना। जो संकल्प किया, उसे पूरा करना। बैल कई तरह के होते हैं। एक बैल धौरय होता है, जो भार ज्यादा लगने पर बीच में ही जुआ डाल देता है। एक नागौरी बैल होता है, वह जितना भी वजन हो वहन कर लेगा, बीच में जुआ नहीं डालेगा। भार को जैसे-तैसे पार लगा देगा। जो प्रतिज्ञा कर ली, जो संकल्प कर लिया उसका निर्वाह नहीं करना नेतृत्व की सफलता की बड़ी कमी है। व्यक्ति को या तो प्रतिज्ञा पहले करनी नहीं चाहिए। यदि प्रतिज्ञा की है तो उसका दृढ़ता से निर्वाह करना चाहिए। नेता जो भी संकल्प करे, उसका निर्वाह करना उसका परम कर्त्तव्य है।

प्रतिज्ञा का निर्वाह कैसे हो?

मैं पचास वर्षों से देख रहा हूं कि हर पांच साल के बाद प्रतिज्ञा दोहराई जाती है कि गरीबी को समाप्त करेंगे, किंतु सचाई यह है कि गरीबी आज भी यथावत् है। आज तो स्थिति यह है कि गरीबी की रेखा से नीचे जीनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। बहुत लोग ऐसे हैं, जो गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन जीते हैं। उन्हें पोषक आहार नहीं मिलता और कुपोषण के कारण पता नहीं कितने व्यक्ति बेमौत मर जाते हैं। एक बार का प्रसंग है। चुनाव का समय था और एक राजनीतिज्ञ नेता ने आश्वासन दिया कि मुझे वोट देकर जिताओगे तो गांव में पानी ला दूंगा। लोगों ने उसको विजयी बना दिया। पांच वर्ष हो गए, पानी नहीं आया। फिर दूसरा चुनाव हुआ। उसने फिर कहा–जिता दो, गांव में पानी ला दूंगा। लोगों ने कहा–पांच वर्ष हो गए, तुमने तो वादा पूरा किया ही नहीं। उसने कहा–देखो, पांच वर्ष में नल आ गए, इस बार जिताओगे तो पानी भी आ जाएगा। प्रतिज्ञा का निर्वाह करना एक बहुत बड़ी शक्ति है। जो आदमी संकल्प को निभाता है, उसका विश्वास पैदा होता है। कई बार तो नेता को याद ही नहीं रहता कि मैंने क्या प्रतिज्ञा की थी? जहां वचन निभाने की बात नहीं होती वहां नेतृत्व अच्छा नहीं हो सकता और उस नेतृत्व के प्रति जनमानस में विश्वास भी नहीं हो सकता।

इन्द्रिय-विजय

एक व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है, पर प्रतिज्ञा को निभा नहीं सकता, इसके पीछे भी कुछ कारण हैं। उन कारणों को भी हमें समझ लेना चाहिए। प्रतिज्ञा में स्खलित होने के मुख्य तीन कारण बतलाए गए हैं। प्रतिज्ञा-भंग का पहला कारण बताया गया है इन्द्रिय-विजय की कमी। जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है, उसका संकल्प टूट जाता है। जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली, वह अपने संकल्प को पूरा कर देता है। जो इन्द्रियजयी नहीं होता, वह विजयी नहीं बन सकता और वह सत्यवादी भी नहीं हो सकता। आज नेतृत्व के साथ जो प्रभाव होना चाहिए, उसमें बहुत कमी आई है। बहुत बार इन्द्रियों की दासता नेतृत्व के आगे प्रश्न चिह्न लगा देती है। अनेक बार समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि ऐसी स्थितियां बन जाती हैं कि दिन में राजकाज और रात को रंगरेली। बड़ी विचित्र स्थिति बनती है। जो इन्द्रिय-विजयी नहीं होता, वह प्रतिज्ञा को निभा नहीं सकता और वह अच्छा नेतृत्व भी नहीं दे सकता। इसीलिए महामात्य चाणक्य ने कहा था कि शासक को इन्द्रिय जयी होना चाहिए।

कष्ट-सहिष्णुता

प्रतिज्ञा से स्खलित होने का दूसरा कारण बनता है–असहिष्णुता। जो कष्ट सहन नहीं कर सकता, वह कभी प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं कर सकता। अच्छा नेता वह होता है, जो कितना ही कष्ट आए, अधीर नहीं बनता, घबराता नहीं और अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है।

आचार्य भिक्षु ने साधना का पथ चुना, प्रतिज्ञा कर ली कि हम इस मार्ग पर चलेंगे। कष्टों के पहाड़ टूट पड़े, भारी कष्ट आए, पर वे कभी घबराए नहीं। जयाचार्य ने लिखा–**मरण धार सुध मग लह्यो।** उन्होंने संकल्प कर लिया कि चाहे मौत आ जाए, फिर भी मुझे स्वीकृत पथ को नहीं छोड़ना है। जो व्यक्ति कष्टों से नहीं घबराता, वह कभी अपनी प्रतिज्ञा को बीच में नहीं छोड़ता। जो कष्टों से घबराता है, वह संकल्प को तोड़ देता है। थोड़ा-सा कष्ट आने पर विचलित हो जाता है और कहता है कि मैंने संकल्प तो किया था, पर मेरा आशय दूसरा था। वह बात के आशय को बदल देता है।

एकाग्रता

जो अपने चित्त की चंचलता पर नियंत्रण नहीं करता, वह कभी भी अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं कर सकता। जो एकाग्रता को साध लेता है, वह संकल्प को कभी नहीं तोड़ता। जिसका चित्त डांवाडोल है, चंचल है, वह प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं कर सकता। शादी का प्रसंग था। सगाई हो गई। कुछ दिन बाद स्थिति ऐसी बनी कि संबंध वापस तोड़ दिया। कन्यापक्षवालों ने वरपक्ष वालों से कहा–अब हम संबंध नहीं रखेंगे, क्योंकि कन्या का मन बदल गया। वरपक्ष वालों ने कहा–आपकी मर्जी है, आप संबंध न रखें। हमने जो कीमती हार दिया था, वह अवश्य लौटा दें। बात कन्या तक पहुंची तो वह बोली–नहीं, उसके प्रति तो मेरा मन अभी बदला नहीं है। एक बात के लिए तो मन बदल जाता है।

एक बात के लिए मन नहीं बदलता। यह मन की चंचलता है। जिसमें चंचलता है, वह कभी संकल्प का निर्वाह नहीं कर सकता, प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं कर सकता। इन्द्रियों पर विजय, कष्ट सहन करने की क्षमता और चित्त की एकाग्रता जहां ये तीन विशेषताएं होती हैं, वहां संकल्प की दृढ़ता का रूप सामने आता है। कोई भी बड़ा कार्य होता है तो उसके पीछे संकल्प की दृढ़ता बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

सत्यनिष्ठा : एक कसौटी

राजनीति के क्षेत्र में जब भी कोई मंत्री बनता है, राष्ट्रपति बनता है, उसे शपथ दिलाई जाती है। शपथ का समारोह भी होता है। उस शपथ को निभाना अच्छे नेतृत्व का एक महान लक्षण है। अच्छे नेता के लिए आवश्यक है विधान की मर्यादा में रहकर कार्य करना। यदि विधान का अतिक्रमण होता है, उल्लंघन होता है, वहां नेतृत्व सफल नहीं होता। सत्यनिष्ठ होना, जो प्रतिज्ञा की उस प्रतिज्ञा का निर्वाह करना और अपने संकल्प को बराबर पुष्ट बनाए रखना, यह नेतृत्व की बड़ी कसौटी है। मैं मानता हूं कि सफलता की भी यह एक महान कसौटी है।

प्राण गए, प्रण नहीं छोड़ा

साधु जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जब साधुत्व के प्रति दृढ़ता की कसौटी होती है। भगवान महावीर सिन्ध (कराची) देश की यात्रा पर जा रहे थे, सैकड़ों साधु साथ में थे। रास्ते में भयंकर जंगल आया, प्यास लग गई, पानी पास में नहीं था। तालाब आया तो लोगों ने कहा–महाराज! तालाब में मीठा पानी है, आप प्यासे हैं, आप पानी पीकर प्यास बुझाएं। उस समय साधुओं ने कहा–नहीं, यह पानी हमारे काम का नहीं है, हम इसे नहीं पी सकते। हमने संकल्प लिया है कि तालाब का पानी नहीं पीएंगे। इस संकल्प को हम किसी भी स्थिति में नहीं तोड़ेगे। उस यात्रा में अनेक साधुओं का प्राणावसान हो गया, पर संकल्प को नहीं तोड़ा। बहुत बड़ी बात है संकल्प की सुरक्षा करना। थोड़ी-सी परिस्थिति आई और संकल्प को तोड़ दिया, ऐसे व्यक्ति का आचरण विश्वसनीय नहीं हो सकता।

विश्वसनीय कौन?

विश्वास एक बड़ी शक्ति है। वही व्यक्ति विश्वसनीय होता है, जिसका संकल्प मजबूत होता है। उसके प्रति लोगों का विश्वास होता है कि यह किसी भी स्थिति में संकल्प नहीं तोड़ेगा। चाहे समाज का नेतृत्व हो, चाहे परिवार का नेतृत्व हो और चाहे राजनीति का नेतृत्व हो सब जगह सत्यनिष्ठा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्यनिष्ठा नेतृत्व की सफलता की बहुत बड़ी कसौटी है। जो स्वयं सत्यनिष्ठ होता है, वह दूसरे के मन में भी सत्य के प्रति निष्ठा पैदा कर देता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके बारे में लोग साफ कह देते हैं कि यह झूठा आदमी है, इसका हमें विश्वास नहीं है, यह नेतृत्व नहीं कर सकता। जो ईमानदार और प्रामाणिक होता है, उसके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। लोग

उसी व्यक्ति को नेतृत्व सौंपना चाहते हैं। धर्म के क्षेत्र में ईमानदारी, नैतिकता, सचाई, प्रामाणिकता–इन शब्दों का व्यवहार होता है। व्यवहार में भी यही कहा जाता है कि विश्वास उसका करो, जो सच्चा है, जो प्रामाणिक है और कहने के बाद अपनी बात को कभी नहीं बदलता। आज कुछ कहा और कल कुछ कहा, उसका कभी भरोसा मत करना, यदि भरोसा करोगे तो धोखा खा जाओगे।

नेतृत्व के लिए सबसे ज्यादा जरूरत है निष्ठा की। समाज का प्रमुख वही बने, जो सत्यनिष्ठ हो। जो दिन में दस बार झूठ बोलता है, वह समाज का मुखिया नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए। ऐसे व्यक्ति को यदि समाज का मुखिया बना दिया जाए तो समाज का पतन की ओर जाना निश्चित है। इसलिए नेतृत्व की कसौटी पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

आचार्य भिक्षु के पास कुछ जैन श्रावक मिलकर गए और बोले– भीखणजी! आपका आचार बहुत अच्छा है, आपका विचार बहुत अच्छा है, आपकी नीति बहुत अच्छी है, आपका सिद्धांत बहुत अच्छा है, सब ठीक है, अगर एक बात हो जाए कि आप निर्वस्त्र हो जाओ, हम सब आपके अनुयायी बन जाएंगे। आचार्य भिक्षु ने कहा–मैंने जो संकल्प लिया है, जो व्रत लिया है, जो प्रतिज्ञा की है, वह जिन आगमों के आधार पर की है, उन आगमों में मेरी निष्ठा है। अगर मेरी आस्था दिगम्बर ग्रंथों में होती तो वैसा करने में मुझे कोई संकोच नहीं होता। मेरा विश्वास, मेरा समर्पण श्वेताम्बर आगमों के प्रति है, इसलिए किसी भी शर्त पर मुझे आपकी बात मान्य नहीं है। आचार्य भिक्षु के सामने बहुत बड़ा प्रलोभन था। हजारों-हजारों लोग उनके अनुयायी बनने के लिए तैयार थे, पर आचार्य भिक्षु ने हर प्रलोभन को ठुकरा दिया। वे अपने संकल्प पर अडिग रहे। उन्होंने अपनी निष्ठा की हर स्थिति में सुरक्षा की। जिस व्यक्ति की निष्ठा प्रगाढ़ होती है, वही नेतृत्व देने के अर्ह होता है।

नेता होना, आगे चलना, दूसरों को अपने पीछे चलाना एक बहुत बड़ी बात है, इसलिए जो नेतृत्व की डोर को अपने हाथों में थामता है, उसमें कुछ विशेषताएं अवश्य होनी चाहिए। वह पारदर्शी, समझदार और त्यागी हो, लक्ष्य की दिशा में चलने वाला हो। नेतृत्व सौंपते समय इन कसौटियों पर विचार किया जाए तो हमारा विश्वास है कि नेतृत्व करने वाले व्यक्ति समाज का, राष्ट्र का बहुत ज्यादा भला कर सकते हैं। अपने संगठन को और समाज को नई ऊंचाई दे सकते हैं।

26. संयम

यदि संयम नहीं होता तो दुनिया में भय और आतंक का एकछत्र साम्राज्य होता। यदि नदी तटों के बीच प्रवाहित नहीं होती तो उससे जनता का उपकार कम, अपकार अधिक होता। हमारे जीवन की धारा संयम के तटों के बीच बहती है, इसलिए हम हैं और समाज के बीच में जीवित हैं। नीचे साबरमती बह रही है, ऊपर रेलवे पुल है। एक ओर बड़ी लाइन है, दूसरी ओर छोटी लाइन है। पास में ही साइकिलों और पद-गामियों का मार्ग है। सब अपने-अपने मार्ग से गुजर रहे हैं। कोई किसी के मार्ग में बाधक नहीं बन रहा है। यदि व्यवस्था में संयम नहीं होता तो नदी के प्रवाह में रेलें रुक जातीं, मनुष्यों का आवागमन रुक जाता। मनुष्य संयम को जानता है, इसलिए न प्रवाह रुकता है, न रेलें रुकती हैं और न आवागमन रुकता है।

गीता में कछुए के संयम का वर्णन है। कछुआ संयम करना जानता है। अपने अवयवों को अपनी सुरक्षा-ढाल में संगोपित करना जानता है, इसलिए वह सियारों के प्रहार से बच जाता है। भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ने एक ही भाषा में कहा–'हाथों का संयम करो, पैरों का संयम करो, वाणी का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो और मन का संयम करो।'

संयम : एक समाधान

हर आदमी अपनी सुरक्षा चाहता है। संयम सबसे बड़ी सुरक्षा है। असंयम से जितने आदमी बीमार होते हैं, उतने कीटाणुओं से नहीं होते। असंयम से जितने आदमी घायल बनते हैं, उतने शस्त्रों से नहीं होते। असंयम से जितने आदमी बंदी बनते हैं, उतने पुलिस से नहीं बनते। असंयम से जितने आदमी मरते हैं, उतने मौत से नहीं मरते।

शरीर-शास्त्री कहते हैं–हम लोग पचास प्रतिशत अपने लिए खाते हैं और पचास प्रतिशत डॉक्टरों के लिए खाते हैं। आंतों की आवश्यकतापूर्ति के लिए नहीं खाया जाता, खाया जाता है जीभ की तुष्टि के लिए। भोजन की भूमिका

से जीभ की तुष्टि को निकाल दिया जाए तो अन्न का उतना अभाव नहीं रहेगा, जितना आज है। खाने-पीने की आवश्यक वस्तुओं में ध्यान उलझ जाता है, तब मौलिक आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित नहीं हो पाता। आज ऐसा ही हो रहा है। विलास या लोलुपता की समस्या ने खाद्य की समस्या को गौण कर दिया है और खाद्य की समस्या ने अनेक गौण समस्याओं को मुख्य बना दिया है।

हिन्दुस्तान अल्प साधन वाला देश है। उसमें एक वर्ग विलास और अनावश्यक वस्तुओं का भोग करे और दूसरा वर्ग भूख से संत्रस्त रहे, यह करुण कहानी है। इसमें असंयम का बहुत बड़ा हाथ है। आचार्यश्री तुलसी राजस्थान में थे। उनके कुछ शिष्य दूसरे प्रांत में विहार कर रहे थे। आचार्यश्री ने सुना कि उन्हें भोजन कम मिल रहा है। सुविधा से नहीं मिल रहा है। आचार्यश्री ने अपने भोजन में कमी कर दी। सहानुभूति का स्रोत वहां तक पहुंच गया। उन्हें कठिनाई की अनुभूति कम होने लगी। सहानुभूति के अभाव में कठिनाई की अनुभूति प्रखर हो जाती है और सहानुभूति मिलने पर कठिनाई कम न भी हो, पर उसकी अनुभूति अवश्य ही कम हो जाती है। यदि संपन्न लोग संयम करें तो अभावग्रस्त लोगों की कठिनाई सहज ही कम हो जाती है। वह एक साथ कम भले ही न हो, किंतु उसकी अनुभूति निश्चित रूप से कम हो सकती है।

मनुष्य के जीवन से जुड़ी सारी समस्याएं वस्तु की प्रचुरता से ही नहीं सुलझती है। बहुत सारी समस्याएं संयम से सुलझती हैं। हमारे अर्थशास्त्री केवल वस्तुओं के विस्तार से समस्या को सुलझाने की बात कर रहे हैं। इस समय हमारे धर्म-शास्त्री के लिए क्या यह आवश्यक नहीं है कि वह वैज्ञानिक पद्धति से संयम की प्रस्तुति करे और यह प्रतिपादित करे कि संयम से मानसिक समस्याओं के साथ-साथ भौतिक समस्याएं भी सुलझती हैं। जब नियम (उपासना-पक्ष) प्रधान बनता है और संयम गौण होता है, तब धर्म का क्षेत्र निस्तेज होता है और जब संयम प्रधान और नियम गौण होता है, तब धर्म तेजस्वी बनता है।

27. संयम : जीने की कला

अध्यात्म में आस्थाशील व्यक्ति आत्मा का अध्ययन करता है, आत्मा को समझने का प्रयास करता है। यदि हम आत्मा को पढ़ना चाहें, आत्मा को देखना चाहें तो उसके लिए एक सूत्र बतलाया गया है–संयम। यह दस धर्मों में एक धर्म है और व्यावहारिक जगत में साधना का बहुत बड़ा सूत्र है। संयम का अर्थ है योग का निग्रह करना। योग के तीन प्रकार हैं–मन, वाणी और शरीर। तीनों का निग्रह करना, इन पर कंट्रोल रखना, इन्हें अधिकार में रखना ही संयम है। बाह्य जगत के साथ हमारी आत्मा का सीधा संपर्क नहीं होता। चित्त का भी सीधा संपर्क नहीं होता। बाह्य जगत के साथ सीधा संपर्क होता है शरीर का, वाणी का और मन का। हमारी सारी पहचान शरीर के साथ है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को आकृति देखकर, शरीर को देखकर ही पहचानता है।

संयम पृथ्वीकाय का

पहचान का माध्यम है शरीर। बाह्य जगत के साथ शरीर का सीधा संपर्क जुड़ता है। हम अपने शरीर का संयम करें। संयम के सतरह प्रकार बतलाए गए हैं। सबसे पहले है **षड् जीवनिकाय**। जीवों के छह निकाय हैं अर्थात जीवों के छह समूह हैं। उनके प्रति हम संयम करें। पृथ्वी अर्थात् मिट्टी का संयम करें। मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही मिट्टी में भी आत्मा है। हम पृथ्वी का अनावश्यक उपयोग न करें, अनावश्यक खनन न करें। उन जीवों को अनावश्यक सताएं नहीं, पीड़ा न दें। पृथ्वीकाय के प्रति संयम करें। आजकल तो अतिरिक्त खनन हो रहा है। इतना पृथ्वी का दोहन हो रहा है कि अनेक जगह पाताल से बन गए हैं। चाहे पत्थर के लिए, चाहे खनिज वस्तुओं के लिए, चाहे रत्नों के लिए, मणियों के लिए, मनुष्य अपने असंयम के कारण पृथ्वी के जीवों का हनन कर रहे हैं। जो व्यक्ति आत्मा को देखना चाहता है, आत्मा को पढ़ना चाहता है, उसे तो संयम करना जरूरी है, क्योंकि उसके मन में जब यह भावना जाग जाती है कि सब जीव समान हैं, फिर वह दूसरे जीवों का हनन कैसे करेगा?

संयम पानी का

दूसरा प्रकार है–जल के जीवों के प्रति हमारा संयम हो। आज पानी के संयम की बहुत जरूरत है। आज के आधुनिक परिवेश में पानी के संयम की कमी होती जा रही है। पीने का पानी कम हो रहा है। भविष्य में हिन्दुस्तान में पानी का संकट मंडराता-सा दिखाई दे रहा है। विशेषज्ञ वैज्ञानिक बता रहे हैं कि इसी प्रकार पानी का अपव्यय होता रहा तो एक दिन आएगा कि मनुष्य को पीने का पानी नहीं मिलेगा। वैज्ञानिक यह भी घोषणा कर रहे हैं कि जब अगला युद्ध होगा तो वह पानी के लिए होगा। आदमी पानी के लिए लड़ेगा। पानी की भारी समस्या है। इसलिए पानी का अपव्यय नहीं, पानी के प्रति हमारा संयम हो। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अहिंसा और धर्म से जुड़ी हुई बात है। इस दृष्टि से बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

एक समय था जब धार्मिक आदमी पानी का अपव्यय नहीं करते थे, बहुत ध्यान रखते थे। विशेषकर जैन समाज में तो यह कहावत थी कि कंजूस आदमी जैसे घी को बरतता है, वैसे पानी को बरतो। कंजूस आदमी घी को बहुत थोड़ा-थोड़ा काम में लेता है, वैसे ही पानी को काम लो। दूसरी बात यह प्रचलित थी कि असंख्य जीव मरते हैं तब पानी की एक बूंद का उपयोग होता है। अब वे धारणाएं लगभग समाप्त हो रही हैं। जितना संयम पुराने श्रावकों में था, उतना संयम तो आज मुश्किल है। आज हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कोई आदमी बारह तोला पानी से स्नान कर लेगा।

आज सारी परिस्थितियां बदल गई हैं। शौच के लिए जाएं तो भी पर्याप्त पानी चाहिए, स्नान में भी पर्याप्त पानी चाहिए और अन्य कार्यों में पानी का प्रचुर उपयोग होता है। जो व्यक्ति आत्मा का दर्शन करना चाहता है, आत्मा के आसपास रहना चाहता है, आत्मा को पढ़ना चाहता है उसके मन में जरूर यह भाव विकसित होना चाहिए कि मैं यथासंभव पानी का अपव्यय नहीं करूं, पानी को अपेक्षा से ज्यादा काम में नहीं लूं। यह जागरूकता ही उसे असंयम से बचा सकती है।

संयम वनस्पति का

अगला प्रकार है–अग्नि, वायु और वनस्पति के प्रति संयम। इनमें वनस्पति के संयम पर विशेष ध्यान देना जरूरी है, क्योंकि वनस्पति का भी अपव्यय बहुत होता है। बहुत बार हमें ध्यान ही नहीं रहता कि वनस्पति में भी जीव हैं, इसलिए हमें इनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? प्राकृत का

शब्द है **वच्छे**। 'वच्छ' के संस्कृत में दो रूप बनते हैं–एक वृक्ष और दूसरा वत्स यानी लड़का। लड़का और वृक्ष दोनों को समान माना गया था। इस संदर्भ में बीसल समाज में काफी जागृति थी। एक बार हिसार में हम उनकी धर्मशाला में ठहरे थे। उनमें किसान भी थे। उनका संकल्प था कि वृक्ष को नहीं काटना। जब जोधपुर नरेश ने एक जगह वृक्षों की कटाई का आदेश दे दिया तो बीसल समाज के लोग जाकर अपना बलिदान देने के लिए तैयार हो गए। उनके व्यक्तियों ने अपना बलिदान दे दिया, मर गए, किंतु वृक्ष नहीं काटने दिया। जैन समाज में भी वनस्पति के प्रति करुणा का भाव रहा है। वनस्पति के जीवों की अनावश्यक हिंसा न हो। उनके प्रति संयम का भाव हो। वनस्पति का अनावश्यक उपयोग होता है प्रमाद के कारण। जरूरत तो कम है और व्यक्ति खर्च ज्यादा कर देता है। औद्योगिक युग में जहां फैक्ट्रियां चलती हैं, कारखाने चलते हैं, भट्टियां चलती हैं, आग जलती रहती है, उस स्थिति में इन छोटी-छोटी बातों पर हमें ध्यान देना बहुत जरूरी है। पृथ्वी के जीवों के प्रति संयम करो, पानी के प्रति संयम करो, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों के प्रति संयम करो। कीड़ें-मकोड़ों के साथ संयम करो। प्रश्न हो सकता है कि फिर हमारा विकास कैसे होगा? मेरा मानना है कि विकास की यह गलत अवधारणा ही आज समाज में, देश में और पूरे विश्व में समस्या बन रही है।

अवधारणा सही हो

बुढ़िया जा रही थी। फुटबॉल का खेल था। फुटबॉल जब इधर आता है तो तालियां बजती हैं और उधर जाता है तब भी तालियां बजती हैं। बुढ़िया ने कहा–अरे! यह क्या है? ये तालियां क्यों बज रही हैं? उसे बताया गया–फुटबॉल इस रेखा के पार आ गया तो जीत हो गई, इसलिए तालियां बज रही हैं। बुढ़िया बोली–भले आदमी! पहले तो रेखाएं खींचते हो, फिर उसे जीत-हार का मुद्दा बनाते हो, यह कहां की बुद्धिमानी है? बुढ़िया की बात ठीक थी कि पहले आदमी स्वयं ही लकीर खींच लेता है और फिर उसको जीत-हार का मानदंड मान लेता है। विकास की भी ऐसी रेखाएं खींची हुई हैं कि व्यक्ति हर बात को विकास मान लेता है। आज का विकास संतुलित विकास नहीं है। इस असंतुलित विकास नेअनेक समस्याएं पैदा कर दी हैं। यदि हम आत्मा को पढ़ना चाहें तो हमें छोटे-छोटे जीवों पर ध्यान देना होगा। हमें उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो छोटी बात पर ध्यान नहीं देता, वह बड़ा काम कभी नहीं कर सकता।

आचार्य भिक्षु ने छोटे जीवों पर ध्यान दिया था। छोटे जीवों की भी हिंसा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वे भी जीव हैं, उनमें भी प्राण हैं। कुछ लोगों की मान्यता थी कि बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इस पर आचार्य भिक्षु ने प्रहार किया और लिखा–**रांका ने मार धींगां ने पोखे।** कुछ लोग छोटे जीवों को मारकर जो बड़े सेठ हैं, उनका पोषण करते हैं। यह जीवों के प्रति अन्याय है। यह गलत मान्यता है। क्या छोटी बात पर ध्यान दिए बिना केवल बड़ी बात से काम चलेगा?

एक आदमी वैद्यजी के पास गया। बोला–वैद्यजी! पुड़िया दो। किसलिए? जुकाम हो गया। बेवकूफ कहीं के। मेरे पास जुकाम की पुड़िया लेने आए हो? तुमने क्या समझ लिया? मैं कोई छोटा वैद्य नहीं हूं। मैं बहुत बड़ा वैद्य हूं। मैं इन छोटी बातों का इलाज नहीं करता। जुकाम का इलाज मामूली बात है। मेरे पास तो निमोनिया का रामबाण इलाज है। अगर तुम्हारे निमोनिया हो तो मेरे पास आ जाना, अन्यथा चले जाओ। बोला–वैद्यजी! मैं तो बड़ी आशा लेकर आपके पास आया था। आपका नाम सुना था और जुकाम भी बहुत सता रहा है। आप मुझे कोई पुड़िया दे दो। बहुत गिड़गिड़ाया तो वैद्य को दया आ गई। बोला–देखो भाई! जुकाम की पुड़िया तो मेरे पास नहीं है, पर तुम एक काम करो, हमारे नगर के बाहर बहुत बढ़िया तालाब है। अभी सर्दी का मौसम है। ठंडी हवा चल रही है। आज रात को चार बजे उठ जाना, उस तालाब में खूब स्नान करना। ठंडे पानी में ठंडक के कारण निमोनिया जरूर हो जाएगा, फिर मेरे पास आना, मैं तुम्हारा अचूक इलाज कर दूंगा। वैद्य का ऐसा आश्वासन क्या किसी भी रोगी को आश्वस्त कर पाएगा?

ध्यान दें छोटी बात पर

वह समाज अच्छा समाज होता है, जो छोटी से छोटी बात पर, छोटी से छोटी समस्या पर ध्यान देता है। समस्या बढ़ जाए और फिर उस पर ध्यान दें तो और अधिक अनर्थ हो जाएगा। जब लगे कि छोटी-सी बात है उस पर ध्यान दो। ऋण थोड़ा-सा है, पर वह खतरनाक है। उसी समय सावधान हो जाओ, पता नहीं आगे क्या हो जाएगा? व्रण निकला है, छोटी-सी फुंसी है, तत्काल ध्यान दो। एक छोटी-सी फुंसी परमपूज्य कालूगणी के लिए जानलेवा बन गई। आज चिनगारी छोटी-सी है तो तत्काल उस पर ध्यान दो। कोई बाबा जा रहा था। बीड़ी पी रहा था। थोड़ी दूर आगे गया कि लपटें उठनी शुरू हो गईं। लोग इकट्ठे हुए कि यह कैसे हुआ? खोज की गई। आस-पास कोई नहीं था। एक बाबा आगे बैठा था।

लोग उसके पास जाकर बोले–बाबाजी! आग कैसे लगी? आपने कुछ किया क्या? नहीं मैंने तो आग नहीं लगाई। मैंने तो बीड़ी पीकर फेंकी थी। और क्या चाहिए, एक चिनगारी काफी थी घास के लिए। अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी पर ध्यान दो। बहुत जरूरी है कि हम छोटी बात पर ध्यान दें। हम यदि आत्मा को पढ़ना चाहते हैं तो छोटे-छोटे जीवों पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। छोटी बात पर जितना ध्यान देंगे, उतना ही हमारा चिंतन उदात्त बनेगा, परमार्थ का बनेगा और हम आत्मा को समझने में सक्षम बनेंगे, अन्यथा आत्मा को समझा नहीं जा सकता।

विकास के माध्यम

हम सारे संसार को दो भागों में बांट सकते हैं–एक मूक जगत और दूसरा मुखर जगत। जितने छोटे प्राणी हैं, वे मूक हैं। गाय, भैंस, घोड़े, हाथी, सिंह, बाघ आदि भी मूक प्राणी जैसे ही हैं। उनमें शक्ति तो बहुत है, पर बोलना नहीं जानते, उनमें भाषा का विकास नहीं है। जहां भाषा का विकास नहीं होता वहां भाषा के विकास वाले लोग उन पर अनर्थ कर देते हैं। इसलिए आदमी पशुओं पर चाहे जैसा अनर्थ कर रहा है। आज इतने जीवों को मारा जा रहा है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाचार पत्र में पढ़ा था कि प्रतिदिन लाखों पशु काटे जाते हैं। हिन्दुस्तान संस्कृति, सभ्यता, अध्यात्म की दुहाई देने वाला देश रहा है, लेकिन आज मांस का निर्यात कर रहा है। धन के लिए यह सारा अनर्थ हो रहा है। पशुओं के पास हाथ नहीं हैं। अगर हाथ होते तो वे भी दो हाथ दिखा देते।

हमारे विकास के तीन बड़े साधन हैं–दो हाथ, एक रीढ़ की हड्डी, जो हमें सीधा खड़ा करती है और एक भाषा। इनके कारण ही मनुष्य ने विकास किया है। मनुष्य सीधा खड़ा रह सकता है। कोई भी जानवर कितना ही शक्तिशाली हो, वह सीधा खड़ा नहीं हो सकता। कभी-कभी थोड़ा प्रशिक्षण देकर के सीधा कर दिया जाता है, पर वह कुछ मिनटों के लिए ही सीधा खड़ा हो सकता है। रीढ़ की हड्डी विकास का बहुत बड़ा माध्यम है। दूसरा माध्यम है हाथ। हाथ के आधार पर सारा विकास हुआ है। अगर हाथ नहीं होता तो आदमी न कोई चीज उठा सकता, न कोई चीज बना सकता, न यंत्रों का निर्माण होता और न मकान का निर्माण होता। आजकल मशीनें हाथों का काम कर रही हैं, पर मशीनें भी हाथ से ही बनती हैं। विकास का तीसरा माध्यम है हमारी भाषा। पशुओं का शब्दकोश बहुत छोटा है। पशु अपनी भाषा में बोलते हैं। हमारे शब्दकोश में

लाखों शब्द हो गए। विकास के तीन माध्यमों के साथ मस्तिष्क भी है। हमारा नाड़ी तंत्र बहुत विकसित है। जो मूक प्राणियों के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते, वे आत्मा के पास जाने की क्षमता खो देते हैं। वहां आत्मा को पढ़ने की बात नहीं हो सकती। जो व्यक्ति आत्मार्थी है, आत्मा को जानना चाहता है, आत्मा को पढ़ना चाहता है, उस व्यक्ति को सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना होगा कि मेरे द्वारा मूक प्राणियों के प्रति कोई अन्याय तो नहीं हो रहा है। मैं उनके प्रति कोई अवांछनीय व्यवहार तो नहीं कर रहा हूं। यह है जीव संयम।

अजीव का संयम

जीव-संयम की भांति अजीव-संयम भी अध्यात्म के विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। भगवान महावीर ने जीव संयम के साथ-साथ अजीव संयम का भी संदेश दिया। उन्होंने कहा–अजीव के प्रति भी अन्यथा व्यवहार मत करो। आदमी चल रहा है, बीच में पत्थर पड़ा है, ठोकर लगी तो पत्थर को भी गालियां देनी शुरू कर दी। उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा? वह तो अपने स्थान पर पड़ा था। उसने तो तुम्हारे पर आक्रमण नहीं किया। अपनी भूल के कारण तुमने ठोकर खाई और गालियां पत्थर को देनी शुरू कर दी, यह सर्वथा गलत है। अजीव को भी गालियां मत दो। जो अचेतन है, वह कुछ भी प्रतिकार नहीं करेगा, पर तुमने गालियां दीं तो तुम्हारा असंयम हो गया। संयम और असंयम का दर्शन बहुत सूक्ष्म है। कांटा चुभा तो निकालकर के ऐसा तोड़ा कि फिर किसी को चुभे नहीं। अरे! कांटा तो तुम्हारी गलती के कारण चुभा, तुम देखकर नहीं चले। कांटे को तोड़ देना, पत्थर को तोड़ देना, और भी कोई चीज हो तो उसको समाप्त कर देना–यह सब अजीव के प्रति हमारा असंयम है। इससे भी हमारी आत्मा मलिन होती है।

आत्मा का दर्शन

आत्मा ने अपनी एक मर्यादा बना रखी है। उसका दर्शन है कि मैं दूसरों के सामने नहीं आऊंगी। अगर कोई मुझे देखना चाहे तो पहले मेरी कुछ शर्तों को स्वीकार करे। मुझे देखना है तो जीवों के साथ संयम करो। दुनिया के जो पदार्थ हैं, जो अचेतन हैं, उनके प्रति भी संयम करो। उनके प्रति भी यदि तुम्हारा असंयम है तो मेरा दर्शन तुम्हें नहीं मिलेगा। हमारे शरीर का संयम हो, वाणी का संयम हो और मन का संयम हो। तीनों योगों का संयम हो।

कुछ लोग शरीर का संयम तो कर लेते हैं, पर वाणी का संयम नहीं कर पाते। मुंह से जो भी आया, कह दिया। यह भी आत्मा से दूर जाने का रास्ता

है, धर्म से दूर जाने का रास्ता है। वाणी का भी विवेक जरूरी है। एक कवि ने कल्पना की कि हमारा हर शब्द एक रत्न है। होठ को कपाट बना लिया ताकि कोई गलत शब्द बाहर न निकले। हमारे होठ कपाट बन जाए, पर बहुत बार आदमी होठ रूपी किवाड़ों की भी परवाह नहीं करता। अपशब्द बोल देता है। ऐसा करने वाला भी आत्मा के पास नहीं जा सकता।

तीसरा है मन का असंयम। यह तो बहुत चलता है। मन में बातें आती रहती हैं। एक प्रश्न हमारे मन में भी उठता है कि हमारे पूर्वज आचार्यों ने आत्मा को पाने के लिए संयम का दर्शन तो दे दिया, पर हम संयम कैसे करें? उसकी विधि क्या है? उसकी साधना क्या है? उसकी प्रवृत्ति क्या है? हमें साधना को समझना भी जरूरी है। रतनलाल डोसी, जो हिन्दुस्तान पत्र के संपादक थे और बाद में हिन्दुस्तान साप्ताहिक के भी संपादक रहे, दिल्ली, अणुव्रत भवन में गुरुदेव के पास आए और बोले–महाराज! मैं अमेरिका की यात्रा करके आया हूं, मैंने वहां अणुव्रत की बहुत चर्चा की, पर एक प्रश्न मेरे सामने आ गया, वहां के लोगों ने पूछा–आचार-संहिता तो अच्छी है, पर उसकी साधना क्या है? बिना साधना के आचार-संहिता का हम क्या करें? अहिंसा करो, पर कैसे करें? कैसे स्थिति को बदलें? हमारा हृदय परिवर्तन और मस्तिष्कीय परिवर्तन कैसे हो? हमें तो साधना बताओ। मैं उत्तर नहीं दे सका।

साधना की विधि क्या?

प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को सोचना है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और संयम–ये सब बहुत अच्छी बातें हैं, पर इनकी साधना कैसे करें? हमें साधना की विधि पर ध्यान देना है। प्राचीन समय में साधुओं के पास लोग आते और कहते–महाराज! गुस्सा बहुत आता है। उनका उत्तर होता–तुम्हारे कर्म का योग है। उनको उपाय नहीं बताया जाता। जब तक कोई उपाय नहीं बताया जाए, गुस्सा कैसे कम हो सकता है? क्षमा करो, क्रोध मत करो, इतना कहना पर्याप्त नहीं होता। इसके साथ यह बताना जरूरी है कि यह प्रयोग करो, तुम्हारा गुस्सा कम हो जाएगा। यह प्रयोग करो, तुम्हारा भय कम हो जाएगा। उपाय बतलाना, साधना बतलानी बहुत जरूरी है।

एक उल्लू और चूहा–दोनों में अच्छी दोस्ती थी। दोनों प्रायः मिलते रहते थे। मित्रता पशुओं में भी होती है। बड़ा विचित्र है पशुओं का संसार। हम एक नियम पर नहीं चल सकते। दुनिया के अनेक विचित्र नियम हैं। बहुत सारी बातें आपवादिक होती हैं। एक दिन उल्लू आया और पूछा–बोलो भैया! कैसे चल

रहा है? चूहा बोला–और तो सब ठीक है, पर एक समस्या है कि जब बिल्ली आती है तब प्राण कांपने लग जाते हैं। ऐसा कोई उपाय बताओ कि यह मेरा डर समाप्त हो जाए। उसने कहा–सीधा उपाय है। तुम कुत्ता बन जाओ, फिर डर नहीं रहेगा। उसने कहा–भैया! बात तो ठीक है। तुमने सूत्र तो दे दिया कि कुत्ता बन जाओ, पर कुत्ता बनूं कैसे? उसने कहा–तुम भी क्या बात करते हो? नीति का निर्धारण भी मैं करूं और क्रियान्विति भी मैं करूं, फिर तुम क्या करोगे? शायद हमारे कुछ धर्मगुरु भी ऐसा ही करते हैं। वे नीति का निर्धारण कर देते हैं कि क्रोध मत करो, अहंकार मत करो, भय मत करो, लोभ-लालच मत करो, दूसरों को मत सताओ, पर करें कैसे? जब तक यह प्रक्रिया सामने नहीं आती, तब तक काम नहीं बनता।

आत्मा के पास जाना है तो संयम के सूत्र को पकड़ना होगा। संयम कैसे करें? इस बात को समझने के लिए ध्यान की विधि में जाना होगा, जप करना होगा, इससे परिवर्तन हो सकेगा। प्रेक्षाध्यान का जो प्रयोग चल रहा है, वह संस्कारों को बदलने का उपाय है। उसके द्वारा हम परिवर्तन कर सकते हैं। इसीलिए हम तत्त्व को जानें, बदलने के सूत्र को भी जानें और बदलने की विधि को भी जानें। तीनों बातों को जानें। प्रेक्षाध्यान से यह समझने का मौका मिलता है। कैसे बदला जा सकता है? कैसे भीतर के आनंद को प्रकट किया जा सकता है? हम प्रयोग के द्वारा सचाई का अनुभव करें तभी धर्म के मर्म को आत्मसात कर सकेंगे।

28. धर्म है संयम

एक आदमी घर में बैठा है तो भी यात्रा करता है, लेट रहा है तो भी यात्रा करता है और चलते समय भी यात्रा करता है। हम चलते हैं तो भी कहते हैं यात्रा कर रहे हैं। बैठे-बैठे यात्रा, लेटे-लेटे यात्रा और नींद में भी यात्रा। एक आदमी सो रहा था। नींद में सपना देखा–'परी मुझे उड़ाकर ले जा रही है।' उसने परी से पूछा–'कहां ले जा रही हो?' परी बोली–'सपना तुम देख रहे हो या मैं देख रही हूं।' आदमी यात्रा करता रहता है। शरीर कभी-कभी यात्रा नहीं भी करता, पर मन तो चौबीस घंटा ही यात्रा करता है, नींद में भी यात्रा करता है। स्थिरता के लिए साधना जरूरी है।

संतुलन

एक साधक को यह समझना चाहिए कि शरीर से कितना काम लेना है और शरीर का कितना संयम करना है? मन से कितना काम लेना है और मन का कितना संयम करना है? गति और स्थिति दोनों का संतुलन कर सकें, दोनों को समझ सकें तो जीवन अधिक सार्थक हो सकता है। जीवन की सार्थकता के लिए जरूरी है संतुलन। वर्तमान में संतुलन की कमी आई है।

कर्मस्थान में धर्म

यात्राओं के दौरान हमने अनुभव किया है कि आज के मनुष्य के मन में वास्तव में धर्म के प्रति लगाव नहीं है। व्यक्ति धर्म की आराधना भी करता है, किंतु धर्म के प्रति मन में जो आस्था चाहिए, वह नहीं है। अनेक लोगों ने पूछा–हिन्दुस्तान में इतने धर्म हैं, इतने धर्म-स्थान और इतने धार्मिक हैं, फिर भी बाजार में सचाई नहीं है। क्या कारण है? समूचे धार्मिक जगत के सामने यह बड़ा प्रश्न है कि इतने धार्मिक लोग हों और बाजार सही नहीं हो। बाजार में यदि झूठ चलता है, बेईमानी चलती है, अनैतिक व्यवहार होता है, तो फिर धर्म कहां है? धर्मस्थान में जाकर धार्मिक होना आचार्य तुलसी की भाषा में जीवंत धर्म नहीं है। उनकी भाषा में जीवंत धर्म वह है, जिसका कर्मस्थान में

परिचय मिले। एक धार्मिक की कसौटी यही है कि कर्मस्थान में भी अप्रमाणिक व्यवहार नहीं करे।

एक बार महाराष्ट्र के मंत्री आचार्य तुलसी के पास आए और बोले–आचार्य जी! धर्म करने का मन तो बहुत होता है, पर करूं क्या, समय नहीं मिलता। आचार्यवर ने कहा–'मैं आपको ऐसा धर्म बताता हूं जिसके लिए अलग से समय की जरूरत नहीं। जो भी फाइल आपके पास आए, पूरी ईमानदारी, सचाई से काम करें बीच में कोई घोटाला न करे। आपको अलग से धर्म करने की जरूरत नहीं। बड़ा मुश्किल है ऐसा धर्म करना। एक घंटा बैठकर आराधना करना, जप करना सरल है, परंतु काम को ईमानदारी से आगे बढ़ाना बड़ा कठिन है।

व्यवहार में धर्म आए

प्राचीन समय में बड़े-बड़े क्षेत्रों में गबन होता था, उसके बाद आया घोटाला और अब आ गया महाघोटाला और पता नहीं आगे क्या आएगा? अब धर्म की खोज कहां करें? यह एक बड़ा प्रश्न है। अहमदाबाद की एक बहन गुरुदेव के पास आकर बोली–गुरुदेव! मैं झूठ नहीं बोलती हूं। परिवार में सबके साथ अच्छा व्यवहार करती हूं। मैं किसी को धोखा नहीं देती, ठगती नहीं, किसी का हक नहीं छिनती, पर मैं धर्म नहीं कर पाती हूं। गुरुदेव ने कहा–यही तो तुम्हारा अज्ञान है। तुम धर्म करती जा रही हो, फिर कहती हो मैं धर्म नहीं करती हूं। सामान्यतया धर्म स्थान में जाकर, पूजा-पाठ करें, माला-जप करें, आरती आदि करें, उसको तो लोग धर्म मानते हैं। सचाई, भलाई, नैतिकता, ईमानदारी को धर्म नहीं मानते। धर्म के क्षेत्र में एक विपर्यय हो गया है। इस प्रश्न पर पूरे धार्मिक जगत को चिंतन करना चाहिए कि आखिर धर्म कहां से शुरू करें? धर्म का पहला पाठ है नैतिकता, ईमानदारी, सचाई, झूठा तोल-माप न करना आदि। महामात्य चाणक्य ने धन के दो प्रकार बताए–अर्थ और अर्थाभास। उन्होंने कहा कि जो ईमानदारी से अर्जित होता है, वह अर्थ है और जो बेईमानी से अर्जित होता है, वह अर्थ नहीं, अर्थाभास है। आजकल वह सफेद धन और काला धन के नाम से जाना जाता है। जब धन भी काला हो गया तो आदमी उजला कैसे होगा? समाज उजला कैसे होगा?

अभयदान

आज समाज को नैतिकता और अध्यात्म की बहुत जरूरत है, क्योंकि वर्तमान युग में भय का वातावरण है और उसका परिणाम यह हो रहा कि हजार

वर्ष में जितना हृदय रोग नहीं हुआ, वह पिछली एक शताब्दी में हुआ है। ऑल इण्डिया मेडिकल इंस्टीट्यूट के कार्डियोलोजी विभाग के प्रमुख डॉक्टर्स का कहना है कि हिन्दुस्तान में अगले दस वर्षों में कई करोड़ लोग भय के कारण हार्ट के मरीज हो जाएंगे। भय कोई बाहर का नहीं है, परंतु भीतर का भय बहुत बढ़ रहा है। धन की तीन अवस्थाएं मानी गई हैं–अर्जन, रक्षण और विनाश। आदमी धन को अर्जित करता है, फिर उसकी सुरक्षा करता है और एक दिन उसका नाश भी होता है। हमने देखा–बड़े-बड़े घरानों में किस प्रकार विनाश की बात आ जाती है। धन की सुरक्षा कैसे हो यह चिंता मन में व्याप्त रहती है। बड़े से बड़े आदमी के मन में यह भय छाया रहता है कि इसको कैसे बचा सकता हूं? जबकि सचाई तो यह है कि व्यक्ति स्वयं को भी बचा नहीं सकता, फिर भी धन को बचाने के लिए जाल गूंथता है। भय हृदय को बहुत कमजोर बना देता है। आज बहुत सारी बीमारियां भय के कारण हो रही हैं। पुरानी भाषा में शरीर के रोग और मन के रोग अलग-अलग थे। आज मेडिकल साइंस में नई बात आ गई **साइकोसोमेटिक डिजीज** कोरी शारीरिक बीमारियां नहीं, मनोकायिक बीमारियां। वे लोभ और भय के कारण ज्यादा हो रही हैं। इसलिए हमें सोचना यह है कि अभय कैसे रह सकें? भगवान महावीर की स्तुति में लिखा गया–**दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं** सब दानों में श्रेष्ठ है अभयदान। जो स्वयं ही अभय नहीं है, वह दूसरों को क्या अभय देगा?

भय का कारण है असंयम

आज बहुत सारा भय असंयम के कारण बढ़ रहा है। न खाने का संयम, न वाणी का संयम और न मन का संयम। तीनों बहुत बढ़ गए। आज कोई आदमी बाजार में चला जाए तो मन ललचा जाता है। नहीं खाना हो तो भी खा लेता है और कभी-कभी इतना ज्यादा खा लेता है कि जितना नहीं खाना चाहिए। आज बहुत सारी अनावश्यक चीजें चल रही हैं, क्योंकि संयम नहीं है। बहुत सारी लड़ाइयां वाणी के असंयम के कारण होती हैं। मैंने कई राजनैतिक लोगों से कहा कि आप और कुछ न कर सकें तो कम से कम वाणी का संयम अवश्य करें, जिससे लड़ाई-झगड़ा न हो। बहुत बार लोग बोलकर बिगाड़ देते हैं, वाणी के असंयम से समस्या पैदा कर देते हैं।

वर्तमान युग में मनुष्य का मन जितना चंचल है, शायद पुराने जमाने में नहीं था, क्योंकि सीधा-साधा जीवन था, बहुत प्रवृत्तियां भी नहीं होती थीं। इसलिए मन शांत रहता था। आज मन की चंचलता बहुत बढ़ गई और

चंचलता के कारण आदमी कहीं भी टिकता नहीं है। जब मैं लोगों से पूछता हूं कि आप लोग जब ध्यान करते हैं, जप करते हैं, क्रियाकांड करते हैं, सामायिक करते हैं और कुछ भी करते हैं, उस समय मन उसी में रहता है या भटकता रहता है? लोग कहते हैं कि मन भटकता रहता है। धर्म का पहला पाठ है कि कोई भी क्रिया करो चाहे नमाज पढ़ो, चाहे चर्च में या मंदिर में जाकर प्रार्थना करो, धर्म स्थान में जाकर भक्ति करो, सामायिक करो या कुछ भी करो, कम से कम मन एकाग्र होना चाहिए। उसमें मन नहीं लगता तो फिर वह चंचलता व्यक्ति को कहीं का कहीं ले जाती है। जरूरत है व्यक्ति शरीर को और मन को एक साथ रखे। इसके लिए संयम की साधना को पुष्ट बनाना होगा। संयम की साधना जितनी बलवती होगी, धर्म का बिंब जीवन-व्यवहार में उतना ही स्पष्ट दिखाई देगा। बहुत सारी समस्याएं अपने आप सुलझ जाएंगी।

29. धर्म का पहला सूत्र : इन्द्रिय संयम

एक आदमी अच्छा जीवन जीना चाहता है। वह अच्छे जीवन का प्रारंभ इन्द्रिय-संयम से, इन्द्रिय-विजय से करे। उसके लिए दो सूत्रों का निर्देश दिया गया है–1. इन्द्रियों से उतना ही काम लो जितना जरूरी है। 2. विषय के प्रचार का निरोध करो।

दुनिया में बहुत चीजें देखने की हैं। सामने से बहुत सारी चीजें जाती हैं, पर उतनी ही देखें, जितनी जरूरी है। आकर्षण ऐसा न हो कि सबकुछ देखना है। टी.वी. और कम्प्यूटर के युग में व्यक्ति सब कुछ देखना चाहता है। आखिर कितना देखेंगे? कुछ वर्ष पहले की बात है। अहमदाबाद से एक परिवार आया। वह मेरे पास बैठा था। चर्चा के दौरान एक भाई ने कहा–यह हमारा बच्चा है, टी.वी. बहुत देखता है। आप संकल्प करा दें कि इतने घंटों से ज्यादा न देखें। बच्चा भी दस-बारह वर्ष का था। मैंने पूछा–कितने घंटे टी.वी. देखते हो? बोला–बारह घंटे। मैंने कहा–चौबीस घंटे में बारह घंटे टी.वी. देखते हो, फिर पढ़ाई कब करते हो? उसने कहा–मेरा किसी काम में मन नहीं लगता, पढ़ाई में भी मन नहीं लगता। हर समय टी.वी. में ही मन लगा रहता है। उसे जब समझाया तो मुश्किल से बारह से दस घंटे तक आया।

परिहार अनावश्यक का

हम दो शब्दों पर विचार करें–आवश्यक और अनावश्यक। जीवन में आवश्यक कितना है और अनावश्यक कितना है? क्या इतना टी.वी. देखना आवश्यक है? इससे इन्द्रियों की आसक्ति बढ़ती है। पहले तो कभी कभार सिनेमा घर जाते थे। आज तो हर घर में सिनेमा घर हो गया। इतने साधन हो गए कि घर बैठे सबकुछ देखा जा सकता है। आज अनावश्यक बहुत हो रहा है। इससे बौद्धिक क्षमता में भी अंतर आ रहा है और संवेग भी बहुत प्रबल हो रहे हैं। कुछ लोग इतने भावुक (इमोशनल) होते हैं कि घटना को देखते-देखते उसमें बह जाते हैं। एक छोटी बच्ची ने किसी को फांसी खाते देखा। घर पर

आई, सोचा, देखूं, फांसी कैसे ली जाती है? खुद ही फांसी का फंदा बनाया, गले में डाला, लटकी और मर गई।

जितना भोग उतनी अतृप्ति

आदमी में भावुकता होती है, लेकिन बहुत जरूरी है उस पर भी नियंत्रण रहे। इन्द्रियों की लोलुपता संवेगों को उत्तेजना देती है और उससे प्रभावित होकर आदमी अकरणीय काम भी कर लेता है। अगर अच्छा इमोशन है तो अच्छा काम करता है और नकारात्मक भाव प्रबल है तो गलत काम भी कर लेता है। आज की यह बड़ी समस्या है। जीवन में मनोरंजन भी जरूरी है। पांच मिनट, दस मिनट, आधा घंटा मनोरंजन कर लिया, किंतु दस-बीस घंटा मनोरंजन चले, यह जीवन की व्यर्थता है और उससे हानि भी बहुत होती है। सीमाकरण करना, आवश्यक करना और अनावश्यक न करना इसका बोध होना बहुत जरूरी है। जो व्यक्ति इन दोनों शब्दों की सीमा में जीता है यानी आवश्यक करता है और अनावश्यक नहीं करता, वह बहुत सारी समस्याओं से बच जाता है। जो आवश्यक और अनावश्यक का विवेक नहीं करता, इन्द्रियों का निरोध नहीं करता उसकी अतृप्ति बढ़ती चली जाती है। लालसा को जितना बढ़ाओ, बढ़ती चली जाएगी, क्योंकि लालसा का अंत नहीं है। पदार्थ के प्रति जितना ज्यादा आकर्षण बढ़ेगा, लोलुपता बढ़ेगी, उतना ही मानसिक विक्षेप बढ़ेगा। कुछ लोग इतने समझदार होते हैं, जिनमें अपने आकर्षण पर नियंत्रण करने की क्षमता होती है। वे अनावश्यक कुछ भी नहीं करते। आवश्यक पर ही ध्यान देते हैं।

निदर्शन आनंद का

भगवान महावीर का प्रमुख श्रावक था आनंद। उसके पास आज के हिसाब से शायद अरबों-खरबों की संपत्ति थी, पर वह अपने व्यक्तिगत जीवन में पूर्ण संयमी था। धनी लोगों को आनंद श्रावक के जीवन का अध्ययन करना चाहिए, जिससे उनका प्रमाद नहीं बढ़े। उसका संयम सधा हुआ था। उसका संकल्प था कि एक या दो से ज्यादा अंगोछा नहीं रखूंगा। बारह महीने तक एक से ही काम चलाऊंगा। उसका दृष्टिकोण बदल गया था। जब दृष्टि बदल जाती है तो सबकुछ बदल जाता है। जब तक दृष्टि नहीं बदलती, चिंतन नहीं बदलता, तब तक ज्ञान नहीं बदलता और आचार भी नहीं बदलता।

प्रस्थान संयम की दिशा में

हमारा मूल आधार है दृष्टि। हेनरी फोर्ट कार का निर्माण करने वालों में प्रथम व्यक्ति था। इतना बड़ा व्यक्ति, इतनी बड़ी कंपनियों का मालिक।

एक दिन उसके सचिव ने कहा–साहब! आपका कमीज थोड़ा पुराना हो गया है, आज्ञा दें, नया सिला लें। फोर्ट ने उत्तर दिया–क्या फर्क पड़ता है, मैं कहीं भी जाऊंगा तो हर अमेरिकन मुझे जानता है कि यह हेनरी फोर्ट है। कुछ दिन बीते, हेनरी को विदेश जाना था, तब सचिव ने कहा–साहब! अब तो आपको विदेश-यात्रा करनी है। यह कमीज अच्छी नहीं लगेगी, आप आज्ञा दें तो मैं नई सिला दूं। हेनरी ने कहा–क्या जरूरत है? विदेश में मुझे कौन जानता है कि यह हेनरी फोर्ट है। नई कमीज सिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अच्छा पहनूंगा तो भी कोई नहीं जानेगा, यह पहनूंगा तो भी नहीं जानेगा, कोई आवश्यकता नहीं है। यह है दृष्टिकोण का परिवर्तन, यह है सम्यक् दृष्टिकोण। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सही होता है, वह अनावश्यक काम नहीं करता। कहा जाता है कि वारेन बफेट ने अपने जीवन में अरबों का दान किया। उसने पचास वर्ष पहले तीन कमरों का फ्लैट बनाया था, आज भी उसी में रहता है। सिक्योरिटी की कोई जरूरत नहीं। वह दुनिया की बड़ी से बड़ी हवाई जहाज की कंपनी का मालिक है, लेकिन उसका अपना व्यक्तिगत कोई हवाई जहाज नहीं है। ड्राईवर भी नहीं है, स्वयं ही कार चलाता है। कैसे संभव है? यह सब पढ़ते हैं तो आनंद श्रावक की बात ठीक समझ में आती है।

आज भी दुनिया में ऐसे लोग हैं, जिनका दृष्टिकोण सही है। ऐसे लोग दुनिया में अच्छा जीवन जीते हैं और यथार्थ का जीवन जीते हैं। जिससे मन की शांति भी रहती है और उनका अगला जन्म भी अच्छा होता है। जो लोग पदार्थ के पीछे लगे रहते हैं, उनके मन में शांति नहीं रहती, तनाव रहता है। उनका अगला जन्म भी शायद अच्छा नहीं होता। यह सब दृष्टिकोण पर निर्भर है। सबसे पहले यह दृष्टिकोण बने कि मुझे इन्द्रियों का निरोध करना है, इन्द्रियों के विषयों की सीमा करनी है और जो प्राप्त विषय हैं, उन पर राग-द्वेष नहीं करना है। ये बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। किसी विषय पर राग और द्वेष न करना, इसका नाम है इन्द्रिय-विजय।

जरूरी है इन्द्रिय-संयम

पहली बात है–अनावश्यक नहीं देखना। आज की दुनिया में यह कठिन भी है। जो लोग टी.वी. ज्यादा देखते हैं, वे सीमा करें कि आधा घंटा से ज्यादा हम नहीं देखेंगे। कुछ दृश्य ऐसे होते हैं, जो राग-द्वेष को उद्दीपन देने वाले, काम-वासना को उभारने वाले और मानसिक विक्षेप पैदा करने वाले होते हैं। उनसे समस्याएं पैदा होती हैं। इसलिए इन्द्रिय संयम बहुत जरूरी है।

आंख में देखने की शक्ति है, लेकिन निरंतर मत देखो। कान में सुनने की शक्ति है, पर हमेशा सुनते मत रहो। आंख की शक्ति का भी निरोध करो, कान की शक्ति का भी निरोध करो। आवश्यक देखो, उसमें भी राग-द्वेष मत करो, आसक्त मत बनो। जो आसक्ति में जाता है, वह खो देता है और उसका सबकुछ चला जाता है। एक बार एक राजा ने घोषणा की कि मुझे प्रधानमंत्री बनाना है। आकर्षक घोषणा थी। इतने मंत्री हैं, उनमें से एक का चयन कर प्रधानमंत्री बनाना है, पर मैं उसको बनाऊंगा, जो ठीक चार बजे मेरे पास सबसे पहले आएगा। अनेक लोगों ने घर से प्रस्थान किया। राजा का जहां प्रवास था, उस दिशा में चले। समय से पहले चले, पर मार्ग में संगीत और नृत्य का कार्यक्रम हो रहा था, पैर वहीं अटक गए, सोचा–अभी तो दो बजे हैं। काफी समय है, पहुंच जाएंगे। देखने में, सुनने में लीन हो गए, फिर आगे चले। इतनी आकर्षक वस्तुएं, शायद जो बाजार में भी नहीं मिलती हैं, देखने में लग गए। काफी समय बीत गया। कोई बात नहीं, अभी तो तीन बजे हैं। एक घंटा बाकी है। आगे चले, अब भोजन का कक्ष आया। खाने की स्वादिष्ट वस्तुएं देख मन ललचा गया, उनसे सुगंध आ रही थी, उन्हें खाने बैठ गए, स्वाद में लिप्त हो गए। समय का पता ही नहीं चला। आखिर चार बजे सिर्फ एक व्यक्ति पहुंचा, जो न तो संगीत और नाटक में आसक्त बना। न वस्तु-जगत में लिप्त बना, न बाजार ने उसे आकृष्ट किया और न भोजन ने आकृष्ट किया। ठीक चार बजे पहुंच गया। कोई चार बजकर दस मिनट पर आया तो कोई बीस पर आया। कोई साढ़े चार बजे पहुंचा। राजा ने कहा–मैंने चार बजे का समय दिया था। इतनी देरी से कैसे आए? महाराज! करें क्या? आपने ऐसी व्यवस्था कर दी कि पैर आगे बढ़ ही नहीं पाए। स्थान-स्थान पर पैर रुक रहे थे। इधर घड़ी को देख रहे थे, उधर पैर रुक रहे थे। प्रमाद हो गया, भूल हो गई। जो समय पर पहुंचा, उसको प्रधानमंत्री बना दिया गया।

धर्म का सूत्र

जिसके मन में पदार्थ जगत के प्रति आकर्षण है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति है, अच्छा खाने का रस है, वह लक्ष्य से भटक जाता है। एक बीमार व्यक्ति है। उसको कोई कहता है कि यह मत खाओ। तुम्हारे लिए अमुक चीज खाना अच्छा नहीं है, तो वह कहता है–क्या फर्क पड़ता है, एक दिन तो मरना है, पहले मर जाएंगे। खाना क्यों छोड़ें? यह वस्तुओं के प्रति आसक्ति का उदाहरण है। अगर धर्म के द्वारा आपको कुछ मिल सकता है तो यह सूत्र

मिल सकता है कि आप आवश्यक और अनावश्यक का विवेक करें। अगर आवश्यक और अनावश्यक का विवेक नहीं करते हैं तो आपके स्वास्थ्य की हानि होगी, कार्य की हानि होगी और मोह बढ़ेगा। वर्तमान जीवन भी अच्छा नहीं होगा, अगली गति में भी क्या होगा, कहा नहीं जा सकता।

जैन दर्शन में चार गतियां बतलाई गई हैं–मनुष्य गति, तिर्यंच गति, नरक गति और देव गति। आसक्ति ज्यादा होती है तो व्यक्ति मर करके तिर्यंच गति में जाता है। आज एक बहुत बड़ा आदमी है, कल वह किसी एक पशु की योनि में जन्म लेता है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कभी-कभी हमारे मुनि पुनर्जन्म के शिविर में प्रयोग करवाते हैं। साधक को ध्यान की गहराई में ले जाते हैं कि देखो, तुम पिछले जन्म में क्या थे? कोई कहता है–मैं सूअर था। कोई कहता है–मैं कुत्ता था। किसी को पता भी नहीं चलता कि मैं क्या था? अगर धर्म का विवेक है तो व्यक्ति ऐसा कोई आचरण नहीं करेगा, जिससे नीचे जाना पड़े। प्रत्येक व्यक्ति सोचे कि आज मैं मनुष्य हूं तो आगे भी मनुष्य की योनि से नीचा न जाऊं। कम से कम मनुष्य तो बना रहूं। मरने के बाद नीची गति में न जाऊं। आज तो युग ऐसा आ गया कि मरने के बाद कुछ होगा, यह सोचने का अध्याय ही मानो समाप्त हो गया। कोई सोचता ही नहीं है। बड़े लोगों को तो सोचने की जरूरत ही नहीं है। एक मूर्च्छा पैदा हो जाती है कि हम तो मरेंगे ही नहीं। मरने के बाद भी कहीं जाना है, यह चिंतन का कोई अवकाश नहीं रहता है। प्राचीन समय में धर्म की एक ऐसी अवधारणा थी, जो आदमी को हमेशा बुराई से बचाती थी, अनैतिकता से बचाती थी और आदमी यह सोचता था कि मुझे वर्तमान जीवन का सोचना है और अगले जनम का भी सोचना है। आज उस चिंतन के द्वार ही मानो बंद हो रहे हैं।

पहला प्रश्न है कि धर्म कहां से शुरू करें? इसका एक उत्तर होगा–धर्म इन्द्रिय-संयम से शुरू करें। दूसरा प्रश्न है कि धर्म से मुझे क्या मिलेगा? धर्म से तुम्हें आवश्यक और अनावश्यक का विवेक मिलेगा। अनावश्यक मत खाओ, कपड़ों का भी अनावश्यक उपयोग मत करो। किसी भी वस्तु का अनावश्यक उपभोग मत करो। चिंतन करो कि मैं कितने सीमित पदार्थों से अपना जीवन चला सकता हूं। हमें आवश्यक-अनावश्यक का विवेक धर्म के द्वारा प्राप्त होता है, हम आवश्यक-अनावश्यक का विचार करें, जीवन की धारा बदल जाएगी। हमारा वर्तमान जीवन सुखद और शांतिपूर्ण होगा। हमारी अगली गति भी अच्छी हो सकेगी।

30. जीवन की सरसता है संयम

संयम की बात को समझने से पहले एक प्रश्न पर विचार करना होगा कि जीवन का लक्ष्य क्या है? हर समझदार आदमी अपने जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित करता है। छोटे-छोटे लक्ष्य बहुत सारे होते हैं, जैसे मुझे मकान बनाना है, दुकान खोलना है आदि-आदि। जीवन का केन्द्रीय लक्ष्य एक ही होता है, जिस पर सारा जीवन निर्भर करता है। लक्ष्यहीन जीवन कोई काम का नहीं होता। यदि लक्ष्य स्पष्ट नहीं है तो संयम की बात कैसे होगी?

आचार का निर्धारक : लक्ष्य

लक्ष्य के आधार पर आचार का निर्धारण होता है। अगर जीवन का लक्ष्य खाना, पीना और मौज करना है तो संयम आवश्यक नहीं है। अगर जीवन का लक्ष्य अच्छा जीवन जीना, पवित्रता का जीवन जीना, आत्मा का साक्षात्कार करना हो तो वहां पर संयम की बात अपने आप आएगी। जैसे-जैसे संयम सधेगा, व्यक्ति आत्मा के साक्षात्कार की दिशा में आगे बढ़ेगा।

आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए सबसे पहला साधन होगा इन्द्रिय संयम। जब तक इन्द्रियों का संयम नहीं होगा, तब तक आपने जो लक्ष्य बनाया है वहां तक नहीं पहुंच पाओगे। हमारी पांचों इन्द्रियां बहुत काम की हैं। उनका एक पक्ष है ज्ञानात्मक। हम आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से गंध का ज्ञान होता है, जीभ से रस का ज्ञान होता है और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। इसलिए इन्द्रियां ज्ञानात्मक हैं।

इनका दूसरा पक्ष है राग द्वेषात्मक। हमारी इन्द्रियां मोह के द्वारा संचालित होती हैं। आंख का काम है देखना, किंतु जैसे ही मोह साथ में जुड़ता है, राग-द्वेष जुड़ता है, आदमी प्रियता-अप्रियता की आंख से देखना शुरू कर देता है। जिस व्यक्ति को दुश्मन मान रखा है, उस व्यक्ति के सामने आते ही आंखों में लालिमा छा जाती है, भृकुटि तन जाती है और ललाट में सलवटें पड़ जाती हैं। आंख का काम तो था देखना, पर साथ में राग-द्वेष जुड़े और उसका काम बदल

गया। पांचों इन्द्रियों की यही दशा है। जब तक इन्द्रियों का रागात्मक-द्वेषात्मक पक्ष प्रबल रहेगा, तब तक संयम नहीं होगा।

भोग-निवारक

इन्द्रियों के असंयम से भोग की वृत्ति जागती है। राजा भर्तृहरि भोगों में लिप्त थे। इन्द्रियों के दास थे, किंतु वेश्या के द्वारा अमरफल प्राप्त कर भर्तृहरि की मूर्च्छा टूट गई, यथार्थता का भान हो गया। अंतर से स्वर निकला–धिक्कार है मुझे, धिक्कार है रानी को, धिक्कार है महावत को, धिक्कार है वेश्या को और धिक्कार है कामदेव को। आसक्ति के टूटते ही संयम की शुरूआत हो गई। राग विराग में बदल गया। भोग पर योग का साम्राज्य स्थापित हो गया। संसार के साम्राज्य को छोड़ आत्मा का साम्राज्य पाने के लिए प्रस्थान कर दिया।

संयम और सरसता

इन्द्रियों की उच्छृंखलता, इन्द्रियों का असंयम ही सारी समस्याओं की जड़ है। आज अपराध बढ़ रहे हैं। अगर इनकी जड़ में जाएंगे तो पता चलेगा कि इन अपराधों का कारण है इन्द्रियों का असंयम। आज न आंख का संयम है, न कान का संयम है।

लोगों को संयम की बात प्रिय नहीं लगती। बहुत बार हमारे सामने प्रश्न आता है कि साधु के पास थोड़ी देर के लिए भी जाएं तो वे कहते हैं–यह छोड़ो, वह छोड़ो, संयम करो, साधना करो। न कोई मनोरंजन, न हंसी-खुशी, न कोई आमोद-प्रमोद, न कोई सरसता। कुछ लोग ऐसे भोले होते हैं कि वे आना ही छोड़ देते हैं। वहां जाएंगे तो कुछ न कुछ करना पड़ेगा, इसलिए डरकर दूर ही रहते हैं। पास में नहीं आते, आखिर कारण क्या है? क्या धर्म के द्वारा जीवन में नीरसता आती है? मैं इस बात में विश्वास नहीं करता। मैं तो सरसता में विश्वास करता हूं। यदि धर्म नीरसता पैदा करता है तो फिर धर्म से कोई मतलब ही नहीं है, लेकिन सचाई यह है कि जहां संयम है, वहां जीवन सरस बनता चला जाएगा। जहां संयम नहीं है, वहां प्रारंभ में सरसता लग सकती है, पर जैसे-जैसे समय व्यतीत होगा, जीवन नीरस होता चला जाएगा।

पति पत्नी में काफी तेज झगड़ा हो गया। आसपास के लोगों की नींद उड़ गई। एक आदमी आया और बोला–लड़ाई बंद करो, सब पड़ोसियों की नींद खराब हो रही है, दोनों में से एक चुप हो जाओ। पत्नी बोली–देखो बात यह है कि शादी का पहला वर्ष था, उस समय पति कहता, मैं सुन लेती। दूसरा वर्ष था, मैं कहती, पति सुन लेता। अब तीसरा वर्ष है, हम दोनों बोलते

हैं और पड़ोसी सुनते हैं। भोग काल में प्रारंभ में सरसता होती है, जैसे-जैसे समय बीतता है, नीरसता आती चली जाती है। गन्ने को प्रारंभ में चूसते हैं तो मीठा लगता है, सरस लगता है। धीरे-धीरे मिठास समाप्त हो जाती है। केवल छिलका शेष रह जाता है, रस भीतर चला जाता है, सरसता समाप्त हो जाती है। सरसता है संयम में। जो व्यक्ति संयम के साथ अपना जीवन जीता है, उत्तरोत्तर सरसता बढ़ती जाती है, प्रेम बढ़ता जाता है, लड़ाइयां नहीं होती, झगड़ा नहीं होता और व्यक्ति आनंद के साथ जीवन जीता है। जहां संयम नहीं, वहां समस्या पैदा हो जाती है।

हमारे तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने और ऋषि मुनियों ने संयम, सहिष्णुता, क्षमा, विनम्रता आदि के शाश्वत मूल्य प्रस्तुत किए थे। वर्तमान की पढ़ाई आजीविका प्रधान बन गई है। उसमें मानवीय मूल्यों को, शाश्वत मूल्यों को भुला दिया गया है। यह बहुत बड़ी कमी हुई है। जीवन की सरसता मनोरंजन आदि से नहीं होती। कितनी देर मनोरंजन करोगे? खेलने गए, कितनी देर खेलोगे? आखिर उसकी सीमा होती है। क्रिकेट मैच होता है तो बच्चे, युवक सब देखने लग जाते हैं। कितनी देर देखेंगे? आखिर तो विराम लेना होगा, अन्यथा न रोटी मिलेगी, न पानी मिलेगा, कमाई भी नहीं होगी। मनोरंजन में सरसता क्षणिक होती है। आप यदि निरंतर की सरसता चाहें तो उसका आधार है संयम। आचार्य तुलसी ने अपने दूरदर्शी चिंतन के साथ एक सूत्र प्रस्तुत किया–**संयमः खलु जीवनम्**–संयम ही जीवन है। जहां संयममय जीवन है, वहां सरसता है। संयम के बिना सरसता रह नहीं सकती। चाहे भाई-भाई हों, पिता-पुत्र हों, मां-पुत्र हों, चाहे पति-पत्नी ही क्यों न हो, संयम के समाप्त होते ही परस्पर विग्रह शुरू हो जाएगा। वहां सरसता कैसे रहेगी? हम इस सचाई को समझ लें कि त्याग करना, छोड़ना, संयम करना सरसता को आजीवन बनाए रखने का सुंदरतम उपाय है। इससे सरसता में स्थैर्य आता है।

जिस समय देश आजाद हुआ, उसी समय गुरुदेव ने यह चिंतन किया था कि यह आजादी राजनैतिक आजादी है, असली आजादी तो अपने भीतर से आएगी। केवल राजनैतिक आजादी से काम नहीं चलेगा, असली आजादी का अनुभव जरूरी है। जब तक संयम नहीं होगा, चरित्र नहीं होगा, असली आजादी का अनुभव नहीं होगा। हर चिंतनशील व्यक्ति सोचता है कि संयम के बिना, व्यक्ति सुधार के बिना कोई अच्छा काम नहीं हो सकता। आज का प्रबुद्ध व्यक्ति इस भाषा में सोचता है कि धार्मिक स्थान पर नीरस ही नीरस

वातावरण मिलता है। हंसी-मजाक, कुतूहल और व्यंग्य हो, कोई अभिनय हो, कोई नाटक हो, खेल-कूद हो तो रस आता है। वहां सारी नीरस बात है, सारा नकारात्मक वातावरण है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि नकार के बिना सकार भी ज्यादा दिन नहीं चलेगा।

संयम जीवन है

विक्रम संवत 2016 की बात है। कुछ युवक हमारे पास आए। आकर बोले–आचार्य तुलसी ने जो एक उदघोष दिया है **संयमः खलु जीवनम्** यह गलत है। मैंने पूछा–गलत कैसे है? उन्होंने कहा–रोटी जीवन है, पानी जीवन है, संयम जीवन कैसे हो सकता है? मैंने कहा–आप गहराई से चिंतन करें। वास्तव में रोटी-पानी भी तभी जीवन है जब संयम है। अगर संयम नहीं है तो रोटी-पानी भी जीवन नहीं बनेगा। काफी लंबी चर्चा हुई। आखिर मैंने कहा–देखो, लंबे तर्क-वितर्क की आवश्यकता नहीं है, मैं प्रयोग में विश्वास करता हूं, हम एक प्रयोग कर लें। उस समय तरुण संघ था, उसमें काफी युवक थे। एक और मैं अपना आदमी बिठाता हूं। वह आठ दिन तक कुछ भी नहीं खाएगा और आप अपना आदमी बिठा दें। वह निरंतर खाता चला जाएगा। अंत में जो परिणाम आएगा, वह हम देखेंगे कि संयम जीवन है या मृत्यु है। सब मौन हो गए। युवक बोले–कोई भी व्यक्ति निरंतर खाता चला जाएगा तो दूसरे दिन ही मर जाएगा। मैंने पूछा–खाने से मरा या नहीं खाने से। आठ दिन तक खाने का संयम किया, कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, स्वस्थ हो जाएगा।

एक व्यक्ति ने संथारा किया था, उस समय स्थिति गंभीर थी। दूसरे-तीसरे दिन उसमें बोलने की शक्ति आ गई और अन्य इन्द्रियां भी ठीक काम करने लग गईं। खाना छोड़ने पर शरीर स्वस्थ होता है। अगर आठ घंटा कोई खाता चला जाए, वह जिंदा नहीं रह सकेगा। सब मौन हो गए, चर्चा समाप्त हो गई।

हम चाहे प्रयोग करें, चाहे बौद्धिक स्तर पर बात करें, चाहे तार्किक स्तर पर बात करें, आखिर जो निष्कर्ष होगा, वह यही होगा कि संयम के बिना जीवन में सरसता कभी रह नहीं सकती। अगर वाणी का संयम नहीं है तो पहले दिन ही लड़ाई शुरू हो जाएगी। इन्द्रियों का संयम नहीं है तो जीवन समस्याओं से घिर जाएगा और मन का संयम नहीं है तो चंचलता और तनाव इतना बढ़ जाएगा कि जीना भी मुश्किल हो जाएगा। हम दाएं-बाएं, आगे-पीछे कहीं भी जाकर देखें, संयम के बिना न जीवन टिकता है, न जीवन की सरसता टिकती है। इसलिए

इस दृष्टिकोण को बदलना है कि छोड़ना, त्याग करना गलत नहीं है। संयम की जो बात कही जाती है, वह आपके जीवन को संतुलित, सरस और तनाव मुक्त बनाने के लिए कही जाती है। मैं मानता हूं कि तनाव मुक्त जीवन ही वास्तव में सरस जीवन है। वर्तमान युग में अधिकांश समस्याओं का एक ही समाधान है, वह है संयम। जो व्यक्ति अपने जीवन में संयम को अपनाता है, वह धर्म की अग्रिम कक्षा में प्रविष्ट होने का अधिकारी बन जाता है और वही व्यक्ति आत्मा की पढ़ाई कर सकता है।

31. तप

एक आदमी चला जा रहा था। जेठ की दुपहरी थी। चिलचिलाती धूप और अंगारे बरसाती लू। उसका शरीर तप उठा। उसने सोचा–यह सूर्य नहीं होता तो दुनिया कितनी सुंदर होती?

वर्षा ऋतु आई। आकाश बादलों से घिर गया। भूमि जलजलाकार हो गई। कई दिन बीत गए, बादलों ने आकाश को मुक्ति नहीं दी। सूर्य का संबंध भूलोक से विच्छिन्न हो गया। न पूरा प्रकाश, न धूप और न लू।

वही आदमी वैद्य के पास पहुंचा। वैद्य के पूछने पर बोला–'महाराज! पाचन बिगड़ गया है, इसलिए दवा लेने आया हूं।'

वैद्य ने कहा - 'सेठजी! यह बदलता मौसम है, सूर्य भगवान की रश्मियां भूलोक पर नहीं पहुंचती हैं, इससे अग्नि मंद हो जाती है, कृपया कुछ कम खाया करें।' सेठ दवा लिए बिना ही लौट गया। वह मन-ही-मन सोचता जा रहा था कि सूर्य नहीं होता तो यह दुनिया कितनी भयावह होती?

शक्ति का स्त्रोत है तप

सूर्य हमारी प्राणशक्ति का स्रोत है। क्या तपस्या हमारी प्राणशक्ति का स्रोत नहीं है? जो मनुष्य कम खाता है, वह जितना स्वस्थ, संतुलित और प्रसन्न होता है, उतना वह नहीं होता, जो बहुत खाता है। कम खाना तप है। आचारांग में लिखा है–'भगवान महावीर रुग्ण नहीं थे, फिर भी कम खाते थे।' मैं इस तथ्य को इस भाषा में प्रस्तुत करना चाहता हूं कि भगवान कम खाते थे, इसीलिए स्वस्थ थे। उपवास को चिकित्सा पद्धति का रूप मिल चुका है, किंतु वह केवल शारीरिक चिकित्सा पद्धति नहीं है। उससे चिर अर्जित मानसिक मल भी विसर्जित होते हैं। उपवास एक तप है। महात्मा गांधी ने अस्वाद को एक व्रत माना था। जो आदमी अपनी जीभ को जीत लेता है, उसे पराजित करने की क्षमता किसी भी इन्द्रिय में नहीं होती। अस्वाद महान तप है।

हमारा शरीर बहुत चंचल है। हमारी इन्द्रियां बहुत चंचल हैं। हमारा मन बहुत चंचल है। बंदर बहुत चंचल होता है। उसका स्थिर-शांत बैठ जाना भी एक प्रकार की चंचलता है। हमारी चंचलता बंदर की भांति स्वाभाविक नहीं, किंतु कार्य-हेतुक है। हमारे शरीर की स्थिरता सधती है, वह तपस्या है। तपस्या केवल शारीरिक ही नहीं होती, वाचिक और मानसिक भी होती है। तपस्या का भूख से अनुबंध नहीं है। हमारा मन पवित्र होता है तो हम खाकर भी तपस्या कर सकते हैं। मन की अपवित्रता में भूखे रहकर भी तपस्या नहीं कर पाते।

वे प्राणी बहुत भाग्यशाली हैं, जिन्हें पाणि प्राप्त हैं। वे अधिक भाग्यशाली हैं, जिन्हें वाणी प्राप्त है। वाणी के द्वारा हम बाह्य जगत से संपर्क स्थापित करते हैं। यदि वाणी नहीं होती तो अभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत संकुचित होता। हम वाणी के द्वारा स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्याय का अर्थ होता है, एक व्यक्ति को प्राप्त सत्य या अनुभूति का हजारों-हजारों लोगों द्वारा अभिवरण। यह वाचिक तप है। प्रणालिका जल को खेत तक पहुंचा देती है। वह मात्र माध्यम है। मूल है जल की सत्ता। कुएं में जल होता है, प्रणालिका उसे खेत तक पहुंचाती है। वाणी एक माध्यम है। उसका आकर मन और बुद्धि है। ध्यान मानसिक तप है। अनुप्रेक्षा बौद्धिक तप है। सूर्य से हमारी प्राणशक्ति को पोष मिलता है। तपस्या से हमारी आत्म-शक्ति को पोष मिलता है। गीता में कहा गया है–'यह शरीर है। इन्द्रियां शरीर से अग्रणी हैं, मन इन्द्रियों से अग्रणी है, बुद्धि मन से अग्रणी है और आत्मा बुद्धि से अग्रणी है।

कोरा शरीर तपता है तब अहं बढ़ता है। शरीर और इन्द्रियां दोनों तपते हैं तब संयम बढ़ता है। शरीर, इन्द्रियां और मन तीनों तपते हैं, तब आत्मा का द्वार खुलता है। शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि चारों तपते हैं, तब आत्मा का साक्षात् होता है। यह वह भूमिका है, जिसमें तपस्या स्वयं कृतकृत्य हो जाती है।

32. तप : परमार्थ का पथ

शरीर और आत्मा–ये दो मूल तत्त्व हैं। शरीर सबको दिखाई देता है, किंतु आत्मा नहीं दिखाई देती। जिसको देखना चाहते हैं, वह दिखाई नहीं दे रहा है। जिसको देखना आवश्यक नहीं है, वह दिखाई दे रहा है। हमें देखना है आत्मा को, पर आत्मा अमूर्त है। उस अमूर्त को कोई सर्वज्ञ या केवलज्ञानी ही देख सकता है। हम लोग आंखों से आत्मा को कभी नहीं देख सकते। वह हमारा विषय नहीं है। कोई कहे कि आत्मा को दिखा दो तो यह संभव ही नहीं है। इस विषय पर बहुत विमर्श हुआ है। कोई आत्मा को सिद्ध कर रहा है और कोई आत्मा का खंडन कर रहा है, पर प्रत्यक्ष कोई भी दिखा नहीं सकता। केवलज्ञानी जानता तो है, पर वह भी दिखा नहीं सकता, समझा सकता है।

आत्मा कब दिखती है?

एक दार्शनिक तात्त्विक विवेचन कर रहा था। सैकड़ों लोग बैठे थे। आत्मा के बारे में उसने काफी बातें कहीं। एक युवक खड़ा हुआ और बोला–मैं आत्मा को नहीं मानता हूं। आत्मा को हथेली में लेकर दिखा दो कि यह आत्मा है तो मैं इस बात को मान सकता हूं। दार्शनिक ने सोचा–मैं तो अच्छी तरह से आत्मा का प्रतिपादन कर रहा था, बीच में ही इस युवक ने एक व्यवधान पैदा कर दिया और सबके मन को भ्रमित कर दिया। दार्शनिक कुशल था, व्यावहारिक था। तर्क एक बात है और व्यवहार कुशलता अलग बात है। जो व्यक्ति व्यवहार कुशल होता है वह बात को स्पष्ट कर देता है। उसने कहा–युवक! तुम ठीक बात कह रहे हो। तुम आत्मा को देखना चाहते हो। मैं प्रयत्न करूंगा। पहले एक काम करो। तुम जाओ और एक ग्लास दूध ले आओ। युवक तत्काल गया, चार पांच मिनट में एक ग्लास दूध भरकर ले आया। दार्शनिक के हाथ में दे दिया। ग्लास हाथ में लेकर वह कभी इधर देखता है, कभी उधर देखता है, कभी ऊपर देखता है, कभी नीचे देखता है। युवक बोला–महाशय! क्या कर रहे हो? आप जल्दी दूध पीकर मुझे आत्मा को दिखाओ। मैं बहुत उत्सुक हूं आत्मा

को देखने के लिए। दार्शनिक बोला–मैं घी को देख रहा हूं। मैंने सुना है कि दूध में घी होता है। इसमें घी कहां है? चारों तरफ देखा, पर घी दिखाई नहीं दिया। युवक ने कहा–दूध में घी ऐसे थोड़े ही दिखाई देता है। दार्शनिक ने पूछा–कैसे दिखाई देता है? युवक ने कहा–दूध को पहले चुल्हे पर गर्म करो, नीचे उतार ठंडा करो, फिर जमाओ, फिर मथो, तब घी और मक्खन निकलेगा। ऐसे घी दिखाई नहीं देगा। दार्शनिक बोला–तुम आत्मा को साक्षात् देखना चाहते हो। पहले शरीर को तपाओ। मन चंचल है, उसको थोड़ा जमाओ, जामन दो और फिर मंथन करो। आत्मा तुम्हें निश्चित दिखाई देगी। युवक को समाधान मिल गया।

तप और प्रतिसंलीनता

हम आत्मा को सीधा देखना चाहते हैं, यह कैसे संभव है? पहले शरीर को तपाना पड़ता है। आत्मा उसके भीतर है। जब तक हम शरीर को नहीं तपाते, तब तक भीतर का भाग दिखाई नहीं देता। आत्मा को जानने का, आत्मा को पढ़ने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है तप। संस्कृत में सुंदर परिभाषा है–**इन्द्रियशरीरतापनात् तपः**–इन्द्रिय को तपाओ, शरीर को तपाओ और उस ताप में कर्म को जलाओ।

तप का एक प्रकार है प्रतिसंलीनता। वह इन्द्रियों को तपाने का तप है। प्रत्याहार करो, इन्द्रियों का संयम करो। उन्हें विषयों से हटा दो। बड़ा कठिन तप है इन्द्रियों को विषयों से हटा देना। केवल शरीर को नहीं तपाना है, पहले इन्द्रियों को तपाओ। फिर शरीर को भी तपाओ। शरीर की हर मांग को पूरा मत करो। मांग पूरी नहीं होगी तो उसको ताप लगेगा। मांग पूरी हो जाएगी तो ठंडा हो जाएगा। ताप लगेगा तो फिर आग इतनी तेज हो जाएगी कि भीतर में जो कर्म हैं, वे जलने शुरू हो जाएंगे। हमें कर्म के इंधन को जलाना है। इन्द्रियों को तपाना, शरीर को तपाना और कर्म को जला देना, जहां ये तीनों बातें होती हैं वहां तप निष्पन्न होता है।

जरूरी है आभ्यंतर तप

तप के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है, आत्मा को देखा जा सकता है, किंतु इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी है कि केवल न खाना ही तप नहीं है। तप का अर्थ है तपाना। बाह्य तप भी तप है, पर पर्याप्त नहीं है। आत्मा को देखना है, आत्मा को पढ़ना है तो उसके साथ दोनों प्रकार का तप–बाह्य तप और आंतरिक तप जरूरी है। आंतरिक तप का प्रभाव ज्यादा होता है। केवल बाह्य तप से काम नहीं चलेगा। बाहर में हम उलझे न रहें। भीतर

को देखने का प्रयत्न करें। भीतर क्या है? उपवास कर लिया, बाहर का तप तो हो गया। अब भीतर क्या हो रहा है? इस पर बहुत गहराई से ध्यान देना है। उपवास किया और सारे दिन हिंसा की प्रवृत्ति चलती रही, उपवास का लाभ कम हो जाएगा। लाभ कहां मिलेगा? बाह्य और आभ्यंतर दोनों तप साथ चलें। उपवास में आत्मचिंतन किया, स्वाध्याय किया, ध्यान किया तब उपवास ज्यादा सार्थक होता है। उपवास कर लिया, उसमें दुकान का भी धंधा चलता रहा, लड़ाई भी हो गई, झगड़ा भी हो गया, इधर-उधर की बातें भी कर लीं तो उपवास का लाभ नहीं मिलेगा। उपवास करने वालों को बहुत ध्यान देना है। केवल बाहर का नहीं, भीतर का उपवास भी साथ में चलना चाहिए। पुराने जमाने के श्रावक उपवास करते थे तो वे सब कामों में निवृत्त होकर पौषधशाला में चले जाते, ध्यान, स्वाध्याय, आत्मचिंतन में ही लगे रहते। उनका वह एक उपवास भी बहुत काम का हो जाता।

हम बाहर-भीतर दोनों को समझने का प्रयत्न करें। सम्राट चन्द्रगुप्त का साम्राज्य बहुत विशाल था। चाणक्य उनका महामंत्री था। चाणक्य की बुद्धि ने उस साम्राज्य को इतना विकसित कर दिया कि ऐतिहासिक दृष्टि से वह समय भारत का स्वर्ण युग बन गया था। एक बार वे दोनों बातचीत कर रहे थे। दोनों में बहुत सौहार्द, प्रेम और आत्मीय भाव था। चन्द्रगुप्त बोला–महामात्य! आप में बुद्धि बहुत है, चतुराई है, कौशल है, सब है, पर प्रकृति का क्या रहस्य है कि भगवान ने आपको रूप नहीं दिया। चाणक्य ने सोचा–सम्राट को अपने रूप का गर्व हो रहा है। थोड़ी देर बाद सम्राट को प्यास लगी। राज्यसभा में पानी लाने का आदेश दिया गया। महामात्य ने कर्मचारी को कहा–मिट्टी के घड़े का पानी भी लाना है और सोने के पात्र का पानी भी लाना है। दोनों प्रकार के घड़ों का पानी सम्राट के सामने हाजिर कर दिया गया। महामात्य स्वयं उठा और सोने के बर्तन से पानी की ग्लास भरी और सम्राट के हाथ में थमा दी और कहा–आप पानी पीएं। सम्राट ने एक घूंट ली और कहा–पानी अच्छा नहीं है, गर्म है। गर्मी का मौसम और गर्म पानी? ग्लास नीचे रख दी। मिट्टी के बर्तन का पानी सम्राट ने पीया तो कहा–पानी बहुत ठंडा है, गर्मी में पीने के योग्य पानी है। सम्राट ने बड़े आनंद के साथ पानी पीया। चाणक्य बोला–महाराज! यह पानी आपने क्यों नहीं पीया? सोने का बर्तन चमचमा रहा है, देखने में भी सुंदर लग रहा है। उसका पानी आपने नहीं पीया और मिट्टी के बर्तन का पानी आपने पी लिया जबकि वह बर्तन अच्छा नहीं लग रहा है, साधारण-सा है। सम्राट बोला–बाहर

से क्या? हमें तो भीतर देखना है, भीतर क्या है? पानी ठंडा है या गरम? तब चाणक्य बोला–आप तो केवल मेरे बाहर के रूप को ही देख रहे हैं। आप मेरे दिमाग में, मेरे मस्तिष्क में क्या है, उसको क्यों नहीं देखते? अब सम्राट का समाधान हो गया।

भीतर को भी देखें

हम केवल बाहर को ही नहीं देखें, भीतर को भी देखें। बाहर का तप सबको दिखाई देता है। जो पर-प्रत्यक्ष है, जो दूसरे को दिखाई दे, वह बाहर का तप है। जो स्व-प्रत्यक्ष है, जो स्वयं को ही दिखाई दे, वह भीतर का तप है। एक आदमी समता का तप करता है, स्वाध्याय करता है, ध्यान करता है, आत्मचिंतन करता है, विसर्जन करता है, वह दूसरे को दिखाई नहीं देता। व्यक्ति को खुद को पता लगता है, वह आंतरिक तप हो गया। अमुक व्यक्ति के आज उपवास है, बेला है, यह दूसरों को पता लगता है, वह बाह्य तप हो गया। हमें दोनों प्रकार का तप करना जरूरी है। बाहर का भी, भीतर का भी। हम अनेकांत में विश्वास करते हैं। उपवास करने वाले ध्यान दें कि कोरा न खाना ही पर्याप्त नहीं है। वे यह भी चिंतन करें कि आज मैंने पूरा उपवास किया है, कुछ भी नहीं खाया, पर उसके साथ कितना आत्मचिंतन किया? कितना आत्मविश्लेषण किया? कितना आत्मालोचन किया? कितना अपने आपको जानने का प्रयत्न किया? कितना स्वाध्याय किया? कितना ध्यान किया? अगर उपवास के साथ ये सारे उपक्रम चलते हैं तो वह सोने में सुगंध हो जाती है। उपवास कैसे करना है? यह एक बड़ी कला है। उस कला को भी सीखना जरूरी है। हमारी वह दृष्टि जागृत होनी चाहिए कि हम वह तप कैसे करें? आत्मा को देखना है तो तप उसका एक साधन है। शरीर, इन्द्रियां और भीतर के कर्म सबको प्रज्ज्वलित करना तप है। पहले परमार्थ की दृष्टि का विकास करना जरूरी है। वह दृष्टि विकसित हो जाए तो फिर कोई कठिनाई नहीं है।

पांच वरदान

लुकमान बहुत प्रसिद्ध वैद्य थे। उनके पुत्र ने पूछा–पिताजी! अगर कोई मालिक मेहरबान हो जाए, वह मुझे कुछ देना चाहे तो मुझे क्या मांगना चाहिए? लुकमान ने कहा–परमार्थ के लिए धन मांगो, स्वार्थ के लिए नहीं। फिर पूछा–यदि और भी कहे कि कुछ मांगो तो क्या मांगना चाहिए? लुकमान ने कहा–पसीने की कमाई मांगो, मुफ्त की नहीं। तीसरा वरदान मांगना हो तो क्या मांग सकता हूं? लुकमान ने कहा–उदारता की मांग करना। चौथे वरदान

के लिए कहे तो लज्जा मांगो। बहुत जरूरी है लज्जा। आज लज्जा के अभाव में कितनी समस्याएं पैदा हो रही हैं। पांचवा वरदान मांगने के लिए कहे तो अच्छा स्वभाव मांगना। ये पांच बातें हो गईं। उससे आगे मांगने जैसा कुछ बचा ही नहीं है। यह परमार्थ की दृष्टि है।

तपस्या भी एक परमार्थ की दृष्टि है। तपस्या के साथ कोई स्वार्थ की दृष्टि नहीं हो। केवल एक ही दृष्टि हो कि तपस्या के द्वारा मुझे आत्मा का साक्षात्कार करना है, आत्मा को पढ़ना है। जब परमार्थ की दृष्टि जाग जाती है तो तप उसके लिए बहुत सहायक बन जाता है। तप के अर्थ को समझें, तप की प्रक्रिया को समझें कि हमें तप क्यों करना चाहिए? कैसे करना चाहिए? समझपूर्वक किया जाने वाला तप आत्मा के साक्षात्कार का निमित्त बन सकता है और हम उसके द्वारा आत्मा के निकट जा सकते हैं।

33. अध्यात्म का अनुष्ठान है तप

जैन परंपरा का एक अनूठा पर्व है पर्युषण। यह पर्व संदेश देता है कि तुम मिठाई नहीं, खाना भी छोड़ दो। यह तपस्या का पर्व है। इस अवसर पर लोग तपस्या करते हैं। धर्म का पहला बिंदु है तप। बहुत प्रसिद्ध बात है कि बहुत सारे लोग धर्म की शुरुआत तपस्या से, उपवास से करते है, क्योंकि उपवास का अपना महत्त्व है। जो व्यक्ति खाने का संयम कर सकता है, वही आगे बढ़ सकता है।

आहार का संयम

आध्यात्मिक विकास के लिए पहली शर्त है आहार का संयम। आज आहार का संयम नहीं हो रहा है। इसके कारण बीमारियों को खुलकर खेलने का मौका मिल रहा है। वर्तमान समाज बीमारियों को निमंत्रण दे रहा है और उनका स्वागत भी कर रहा है। बीमारी को अवसर कब मिलता है? जब व्यक्ति ज्यादा खाता है तो पेट की बीमारी को आने का अच्छा अवसर मिलता है। जब व्यक्ति चीनी ज्यादा खाता है तो शुगर की बीमारी को अच्छा अवकाश मिलता है। नमक बहुत खाता है तो किडनी की बीमारी, हार्ट की बीमारी और हाई ब्लड प्रेशर की बीमारी को बहुत अच्छा स्वागत योग्य स्थान मिलता है। आहार के असंयम के कारण बहुत सारी समस्याएं पैदा हो रही हैं। जिन्होंने धर्म के मर्म को समझा है, अध्यात्म के अर्थ को समझा है, वे इन सब बीमारियों की चपेट में कम आते हैं।

तप के चार प्रकार

उत्तराध्ययन में बारह प्रकार के तप बतलाए गए हैं। उनमें पहला है–अणसणे अर्थात् अनशन करो। दूसरा है–ऊनोदरी, पेट भरकर मत खाओ, कम खाओ। तीसरा है–भिक्षाचरी अर्थात अभिग्रह, संकल्प के प्रयोग करते रहो। चौथा प्रकार है–रस-परित्याग अर्थात रसों का परित्याग करो, दूध, दही, मलाई, मक्खन, घी, गरिष्ठ मिठाइयां, तैलीय पदार्थ मत खाओ। बारह प्रकार

के तप में चार प्रकार के तप–अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग का अनुशीलन करें तो व्यक्ति को धर्म का मर्म भी समझ में आएगा। वह अध्यात्म की साधना में आगे बढ़ेगा और स्वस्थ जीवन जी सकेगा। पूरे जैन समाज में, तेरापंथ, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, दिगम्बर–इन सभी संप्रदायों में तप का विशेष महत्व है। यूरोप, अमेरिका आदि देशों में रहने वाले सैकड़ों श्रावक-श्राविकाएं और बड़े-बड़े उद्योगपति ऐसे हैं, जो पर्युषण पर्व में आठ दिनों की तपस्या करते हैं।

तप का अर्थ

तप का एक अर्थ है–निराहार रहना, उपवास, बेला, तेला आदि करना। तप का दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थ है आहार का संयम। साधना करने वाले ही नहीं, स्वस्थ रहने के इच्छुक व्यक्ति भी आहार का संयम सीखें। अठाई करेंगे तो आठ दिन संयम होगा, उसके बाद सब खुला हो जाएगा। आहार-संयम आठ-दस दिन का नहीं होता, वह बारह महीने का होता है और जीवन भर के लिए होता है। इसलिए आहार का संयम करना बहुत जरूरी है। एक दिन की बात है। जोधपुर चतुर्मास में गुरुदेव और हम प्रातःकाल पहाड़ियों की तरफ से घूमकर वापस आ रहे थे। आते समय रास्ते में गुरुदेव रुके और मेरा हाथ पकड़ा। बोले–महाप्रज्ञजी! हमें आहार के बारे में बहुत बाद में जानकारी मिली। हमने आहार का संयम शुरू कर दिया। यदि यह जानकारी हमें पहले मिलती तो हम सौ वर्ष जीते। उसके बाद तो हमने बहुत सारी चीजों का स्वाद भी नहीं चखा। तप है आहार का संयम। यह काल-प्रतिबद्ध नहीं होता। संयम के साथ-साथ विवेक रहे, जिससे स्वास्थ्य की हानि न हो, मस्तिष्क भी अच्छा रहे, ज्ञान-ध्यान भी अच्छा हो, नकारात्मक विचार, बुरे विचार न आएं और आत्मा का विकास होता रहे। जो छोटी अवस्था में तप करते हैं, उन्हें भी सोचना है कि अभी अठाई की है यह तो एक प्रतीक है तपस्या का। अठाई से सीखना क्या है? मुझे जीवन भर ऐसा भोजन नहीं करना है, जिससे बीमारी को निमंत्रण मिले।

कषाय का विवेक

अच्छा जीवन जीने के लिए आहार-संयम जितना जरूरी है, उससे भी ज्यादा जरूरी है कषाय का विवेक। हम कषाय का विवेक करें। चाहे पारिवारिक जीवन हो, चाहे सामाजिक जीवन हो, चाहे राजनीतिक जीवन हो, सबमें समस्याएं हैं। आज कलह बहुत हो रहा है, क्योंकि लोगों ने कषाय-विजय के मंत्र को नहीं सीखा, कषाय विजय के मंत्र का प्रयोग नहीं किया। ऐसा मानना चाहिए कि जिन व्यक्तियों ने इस मंत्र का अभ्यास नहीं किया, उन्होंने

आत्मा की आराधना नहीं की। जो कषाय का विवेक करता है, वह कहीं भी जाए, चाहे परिवार और समाज में जाए या राजनीति के क्षेत्र में जाए, उसकी छवि दूसरे प्रकार की होगी।

संगठन मजबूत बने

संगठन को मजबूत बनाने वाला तत्व है प्रीति। क्रोध प्रीति का नाश करता है। परस्पर में प्रीति नहीं है, तो बात-बात में लड़ाई-झगड़ा होता रहेगा। प्रेम है तो आदमी झगड़ा नहीं करेगा, हर बात को सहन कर लेगा। वह संगठन अच्छा चल सकता है, जहां विनम्रता है। जहां परस्पर अहंकार टकराते हैं, वहां संगठन बिखरने लग जाता है। अहंकार विनम्रता का नाश करता है, इसलिए अहंकार पर भी नियंत्रण करो और क्रोध पर भी नियंत्रण करो। जहां मैत्री है, वहां संगठन मजबूत रहता है। क्रोध संबंध को नष्ट करता है, छल-कपट और माया मित्रता को नष्ट कर देती है। एक बार छल-कपट किया तो मित्रता समाप्त हो जाती है। इसीलिए धोखेबाज के साथ मित्रता कोई नहीं करना चाहता। सर्वस्व का नाश करने वाला तत्त्व लोभ है। संतोष की चेतना व्यक्ति को विकास की ओर ले जाती है। यह धर्म का सूत्र न केवल धार्मिक जीवन को अपितु सामाजिक जीवन को भी अच्छा बनाता है। हर संगठन के लिए चार चीजें जरूरी हैं–प्रीति, विनम्रता, सरलता और संतोष। ये चार गुण होते हैं तो परिवार भी अच्छा चलता है, समाज भी अच्छा चलता है, गांव भी अच्छा चलता है, राजनीतिक संगठन भी अच्छा चलता है और धार्मिक संगठन भी अच्छे चलते हैं।

करुणा और संवेदनशीलता

हम धर्म के मर्म को समझें और यह चिंतन करें कि हमें किन गुणों का विकास करना है? हमें क्रोध पर नियंत्रण करना सीखना है और प्रीति का विकास करना है। हमें अहंकार पर नियंत्रण करना सीखना है, अपने बड़प्पन का प्रदर्शन नहीं करना है। अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने कहा था–मैं विनम्रता में किसी से पीछे नहीं रहना चाहता। जिस व्यक्ति में विनम्रता होती है वह सदा ऊंचा उठता है। वह कभी नीचे नहीं जाता। हम सूरत में थे, पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम वहां आए। उनका विनम्र व्यवहार सबको आकृष्ट कर रहा था। अहंकार परिवार को तोड़ देता है, समाज को तोड़ देता है, बड़े संगठन को तोड़ देता है। जिस समाज में मैत्री और करुणा नहीं होती, संवेदनशीलता नहीं होती, वह समाज संवेदन-शून्य हो जाएगा। आवश्यकता है संवेदनशीलता और करुणा के विकास की। इससे आदमी का चिंतन बदल जाता है। छल, कपट और लोभ

से क्रूरता पैदा होती है। जब चारों ओर क्रूरता बढ़ जाती है तो सारे संबंध टूट जाते हैं। एक व्यक्ति के मन में यह भावना हो कि भाई कठिनाई में है तो मुझे उसका सहयोग करना चाहिए। मन में करुणा का भाव जागता है तो स्थिति बदल जाती है। आज देखा यह जाता है कि जैसे-जैसे वैभव और धन बढ़ता है, करुणा सूख जाती है, कम हो जाती है। हम यदि सीख सकें तो यही सीखें कि करुणा का विकास हो, गुणों का विकास हो। अगर यह नहीं होता तो कहीं-कहीं उल्टी बात हो जाती है, व्यक्ति जो चाहता है वह नहीं मिलता।

एक मजदूर जा रहा था। जाते-जाते भावना कर रहा था–ऐ मेरे खुदा! सब लोग घोड़े पर चलते हैं और मैं पैदल चलता हूं। मुझे भी एक घोड़ा या घोड़ी दे दो। यह भावना करता हुआ जा रहा था। एक किलोमीटर आगे गया। सामने पुलिस का एक थानेदार खड़ा था। उसके साथ घोड़ी थी। रास्ते में घोड़ी ने प्रसव कर दिया। अब सोचा रास्ते में इसको कौन ले जाए? जब वह नजदीक पहुंचा तो उसको पुलिस वाले ने कहा–इधर आओ, इसे कंधे पर लेकर चलो। बेचारा क्या करे? वापस बोलता जा रहा है–ऐ मेरे खुदा! यह क्या किया? मैंने मांगा था नीचे, दे दिया ऊपर। मांगा था कि चढ़कर चलूं और दे दिया तुमने भार उठाना। उल्टा काम हो गया। व्यक्ति को ऐसी प्रार्थना, ऐसा चिंतन, ऐसा संकल्प करना है कि परस्पर प्रेम बढ़े, सबके साथ मेरा संवाद हो, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध न हो, मेरी विनम्रता बढ़े, मैं अहंकार कभी नहीं करूं।

गुरुदेव के पास प्रधानमंत्री इन्दिराजी दर्शन करने आई। उनके लिए गृहस्थों ने सोफा बिछाया। आते ही अपने हाथ से उसको दूर कर दिया, बोली–आचार्य जी! आपके सामने मैं ऊपर बैठूं, अच्छा नहीं लगता। उनकी विनम्रता का मन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जिस व्यक्ति में विनम्रता होती है, वही बहुत बड़ा काम कर सकता है।

तपस्या करने वाला हर व्यक्ति कषाय-विजय की साधना करे और आत्मनिरीक्षण करता रहे कि मैं जैसा था वैसा ही हूं या कुछ बदला हूं? पिछले वर्ष जितना क्रोध था, उतना ही है या कम हुआ है, कम से कम बढ़ा तो नहीं? अहंकार में कमी आई या नहीं आई? इस प्रकार कषाय-विजय के सूत्रों पर विचार करते रहें। एक दिन हो सकता है कि वह भी एक उच्च आध्यात्मिक सोपान पर चढ़ने योग्य बन जाए। अपने आप को देखना, अपनी कमियों को देखना और अपनी कमियों का परिमार्जन और परिष्कार करना सचमुच बहुत कठिन काम है। जो मन में कठिन काम करने की ठान लेता है, वह कभी पीछे नहीं हटता, आगे बढ़ता रहता है। अपने गंतव्य को प्राप्त करके ही विराम लेता है।

34. तपस्या की विधि

धर्म करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य होता है बंधन मुक्ति। बंधन मुक्ति के दो उपाय है–संवर और निर्जरा। तपस्या उसका बहुत बड़ा साधन है। केवल उपवास करना या लंबा उपवास करना ही तपस्या नहीं है। कम खाना, ऊनोदरी करना बहुत बड़ा तप है। रसों का परित्याग करना, गरिष्ठ भोजन का त्याग करना, विगय का परित्याग करना भी बहुत बड़ा तप है। संयम करना और आज अमुक एक घर से ज्यादा घरों का भोजन नहीं करूंगा इत्यादि अभिग्रह करना भी तप है। स्वाध्याय, ध्यान और विसर्जन आदि तप के अनेक प्रकार हैं।

उपवास और लंघन

तपस्या करना बहुत अच्छा है, पर तपस्या कैसे करें, इसका विवेक बहुत आवश्यक है। दो शब्द आते हैं–उपवास और लंघन। लंघन आयुर्वेद का शब्द है और उपवास धर्म शास्त्रों का शब्द है। आयुर्वेद के लोग स्वास्थ्य की दृष्टि से लंघन कराते हैं। एक-दो दिन खाना बंद कर देते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा करने वाले चालीस-चालीस दिन का उपवास कराते हैं। थोड़ा-सा नींबू रस और पानी देते हैं और वह लंघन कहलाता है। प्रश्न होता है कि उपवास और लंघन में अंतर क्या है? इसका एक सुंदर समाधान भी दिया गया। उपवास दो शब्द से बना है–उप और वास। जब आत्मा के निकट रहकर साधना की जाती है, उसका नाम है उपवास। उपवास तो कर लिया और दिन भर हिंसा आदि कार्य करने में लगे रहे तब लंघन तो हो गया, पर उपवास नहीं हुआ। जिस दिन उपवास करें उस दिन स्मृति रहे कि आज मेरे उपवास है, मैं यथासंभव अशुभ प्रवृत्ति करने से बचूंगा। आरंभ-समारंभ भी कम करूंगा। उपवास का संकल्प कर लिया, साधना में समय बिल्कुल नहीं लगाया। तब वह उपवास नहीं होता, वह लंघन होता है। उपवास में साधना की प्रधानता होती है।

उपवास की विधि

प्राचीनकाल में श्रावक जब उपवास करते तो अधिकांश समय साधना

और स्वाध्याय में ही लगाते। उपवास करने वालों को कम से कम दिन-रात में तीन घंटा स्वाध्याय, ध्यान, जप, सामायिक आदि में बिताना चाहिए और अच्छा तो यह होता है कि चौबीस घंटा में बारह घंटा अपने स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि में लगाएं और आधा समय नींद आदि दिनचर्या में। वह बहुत अच्छा उपवास होता है। उपवास करने की विधि को जानना बहुत जरूरी है, क्योंकि विधि को जानने से पूरा लाभ मिलता है। जब तक विधि का ज्ञान नहीं होता, तब तक पूरा लाभ नहीं हो सकता। अविधि से किया हुआ काम फलदायी नहीं होता। विधि से किया हुआ काम फलदायी होता है। उपवास की विधि यही है कि हम ज्यादा से ज्यादा आत्मा के सान्निध्य में रहें।

मुसलमान लोग जब नमाज पढ़ते हैं, बहुत एकाग्रता से और पूरी निष्ठा के साथ पढ़ते हैं। उनका नियम है कि चाहे नमाज पढ़ते समय कुछ भी हो जाए, उठना ही नहीं है। हमारे भीतर भी ऐसी निष्ठा पैदा हो जाए। चाहे सामायिक करें, चाहे उपवास करें, उसके प्रति निष्ठा पैदा हो जाए। विधि से करें तो उपवास बहुत बड़ी साधना है, बहुत बड़ा तप है।

तपस्या का अर्थ

संयम करना बहुत कठिन काम है। आज के जमाने में और ज्यादा कठिन हो गया है। आदमी बाजार में जाए तो इतनी वस्तुएं हैं कि देखकर ही मन ललचा जाता है। कभी-कभी आदमी भूख से दुगुना-तिगुना खा लेता है। ज्यादा खाने के कारण बहुत बीमारियां भी पैदा हो रही हैं। जीभ का आकर्षण बहुत बढ़ गया। ऐसी स्थिति में आज के जमाने में खाना छोड़ना भी बहुत बड़ी बात है, किंतु उसका पूरा लाभ उठाना हो तो केवल खाने के संयम तक ही सीमित न रहें। उपवास में आत्मा का चिंतन करें, आत्म-निरीक्षण और अपने आपको देखने की साधना करें, स्वाध्याय करें, ध्यान करें। आत्मा के निकट चले जाएं। एक बार भारत में अन्न की कमी थी, उस समय भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने एक दिन एकासन करने की बात कही थी। अन्न का बचाव तपस्या का व्यवहारिक लाभ हो सकता है, मूल लाभ है–कर्मनिर्जरा, आत्मशुद्धि। एक विशेष बात यह है कि भगवान महावीर की तपस्या ध्यान साधना के लिए थी। उन्होंने छह महीने तक निर्जल, निराहार तपस्या की ताकि लंबे समय तक ध्यान कर सके। खाने से इतने लंबे समय तक ध्यान नहीं होता, बीच में व्यवधान होता है।

तपस्या क्यों करें? तपस्या करें निर्जरा के लिए। पहले जो कर्मबंधन हो गया, उस बंधन को कमजोर करना है, उस बंधन को तोड़ना है, आत्मा की

सफाई करनी है। तपस्या से आत्मा और शरीर दोनों का शोधन होता है। यदि विवेकपूर्वक तप किया जाए तो बहुत सारी बीमारियों का शोधन हो जाता है। कीटाणु, बैक्टीरिया आदि भी शांत हो जाते हैं। उज्जैन में एक भाई था। वह इलाज करता था। इलाज के लिए वह रोगी को चौविहार अठाई करवाता, उससे लकवा ठीक हो जाता। बहुत लोगों को उसने ठीक किया। उपवास से शारीरिक लाभ निश्चित होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है, पर यह छोटी बात है। हम यहां तक नहीं अटकें। हमारी दृष्टि परमार्थ की दृष्टि बने। शारीरिक लाभ तो होता ही है, हमें आत्मा का लाभ पाना है, आत्मा के निकट रहना है और आत्मा का अनुभव करना है। यह एक बहुत बड़ा लाभ है तप का। शरीर का लाभ लंघन के द्वारा भी होता है, उपवास के द्वारा भी होता है। यह लाभ दोनों में समान है, किंतु लंघन में आत्मा की सन्निधि का लाभ नहीं मिलता। उपवास में आत्मा के सान्निध्य में, आत्मा के निकट रहने का लाभ मिलता है। बार-बार आत्मा का चिंतन करें। अगर आत्मा है तो धर्म का कोई अर्थ है और अगर आत्मा में विश्वास नहीं है तो धर्म करना व्यर्थ है। हमारे धर्म के केन्द्र में है आत्मा। मनोबल बढ़ाने के लिए और शक्तिशाली बनने के लिए तपस्या करना बहुत जरूरी है। जो महावीर के सिद्धांत को समझते हैं, वे केवल उपवास तक ही सीमित न रहें। प्रतिसंलीनता, आसन, तप, इन्द्रिय-विजय, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग करना भी तप है।

वर्षीतप कैसे करे?

तप का बहुत विस्तृत रूप है वर्षीतप। बहुत सारे लोग वर्षीतप करते हैं, कोई व्यक्ति यह वर्षीतप भी करे कि वर्ष भर में एक भी अपशब्द नहीं बोलूंगा, गाली नहीं दूंगा। उसे उपवास करने वाले से ज्यादा लाभ हो सकता है। एक व्यक्ति संकल्प कर ले कि वर्ष भर में किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करूंगा, किसी के साथ कलह नहीं करूंगा। यह वर्षीतप बहुत शक्तिशाली वर्षीतप बन जाता है। तपस्या को भी प्रायोगिक बनाएं, जिससे जीवन में परिवर्तन आए। जो तप करते हैं, उन्हें तप के संदर्भ में समग्रता से विचार करना चाहिए। तप का स्वरूप व्यापक है। हम उसे न खाने तक सीमित न करें। जो भी व्यक्ति अध्यात्म की दिशा में आगे बढ़ना चाहता है, अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहता है, वह बारह प्रकार की तपस्या में से किसी भी तप का आलंबन ले सकता है। आत्मशुद्धि के लक्ष्य के साथ किया गया हर उपक्रम व्यक्ति को सिद्धि तक पहुंचाने में सहायक बनता है। बारह प्रकार की तपस्या में से कोई एक तपस्या अवश्य करें। तप आत्मा के सान्निध्य में रहने का और भीतर की शक्तियों के जागरण का एक सुंदर और शक्तिशाली अनुष्ठान है।

35. तपस्या और विवेक

तपस्या अपने आप में एक सम्मान है। तपस्या करना एक प्रकार से निग्रह करना है। पांच इन्द्रियों में सबसे ज्यादा कठिन है रसनेन्द्रिय का निग्रह करना। मनोज्ञ वस्तु को देखते ही मन ललचा जाता है। आज एक ही चीज भिन्न-भिन्न तरीकों से बनने लगी है। उस आकर्षक और स्वादिष्ट चीज को देखते ही मन में आसक्ति पैदा हो जाती है। आज उन्हें आकर्षक पैकिंग में सजाकर कुछ इस तरह से उपभोक्ता के समक्ष पेश किया जा रहा है कि देखते ही वह उन्हें खरीद लेता है।

खाद्य-सामग्री और स्वास्थ्य

आज वस्तु की क्वांटिटी तो बढ़ी है, लेकिन सोचने की बात यह है कि क्वालिटी कितनी बढ़ी है? मैं नहीं कह सकता कि जंक फूड बनाने वाली कंपनियां परंपरागत रूप से घरों की कड़ाही में जो बनता और पकता रहा है, उससे कहीं ज्यादा स्वादिष्ट बना रही हैं। तरह-तरह के मसालों का प्रयोग करके भी वे वस्तु को उससे ज्यादा स्वादिष्ट नहीं बना सकतीं। मेहनत से अपनों के लिए तैयार की गई और बेचने के लिए दूसरों के उद्देश्य से थोक में तुरत-फुरत तैयार की गई चीज में जो अंतर होता है, वही अंतर घर की बनी और बाजार से प्राप्त खाद्य सामग्री में देखा जा सकता है। कहां स्नेह और वात्सल्य में पकी खाद्य सामग्री और कहां बेचने के लिए बनी सामग्री। दोनों का कोई मुकाबला नहीं हो सकता।

विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों ने स्वास्थ्य की गंभीर समस्याएं पैदा की हैं। आज डॉक्टर, दवा और अस्पतालों की जो संख्या बढ़ी है, वह इन्हीं कृत्रिम खाद्य पदार्थों की देन है। माल और बिक्री को लेकर कंपनियों में प्रतिस्पर्धा चल रही है। वे आदमी को अपने उत्पाद का दास बना रही हैं। उनका उपभोग करने के बाद शरीर में जो रोग पैदा होंगे, उनके लिए इन कंपनियों द्वारा बनाई गई दवा पर ही निर्भर रहना होगा। आज के इस आधुनिक युग में उपभोक्ता पर दोहरी

मार पड़ रही है। पहले महंगी खाद्य सामग्री खरीदो, फिर उनके द्वारा पैदा किए गए रोग के इलाज के लिए उनकी महंगी दवा खरीदो। निर्माताओं के दोनों हाथों में लड्डू हैं।

तप के ध्यातव्य बिंदु

तपस्या एक शरण है। अगर बीमारी से बचना चाहते हो, स्वस्थ रहना चाहते हो तो तपस्या करो, अन्यथा समस्या को झेलने के लिए तैयार रहो। एक व्यक्ति तपस्या करता है तो उसे तपस्या से पहले और तपस्या के बाद में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? तपस्या में क्या किया जाए, कैसे किया जाए? इसका दशवैकालिक सूत्र में सुंदर निर्देश है –

बलं थामं च पेहाए सद्धामारोगमप्पणो।
खेत्तं कालं च विण्णाय तहप्पाणं निजुंजए॥

तपस्या करने से पहले अपने बल को, अपनी प्राणशक्ति को देखो। अपनी श्रद्धा और अपने आरोग्य को देखो। कमजोर स्वास्थ्य के साथ तपस्या हितकर नहीं होती। क्षेत्र और काल को भी देखना जरूरी होता है। वर्षाकाल या चौमासे में तपस्या करना अनुकूल रहता है। चैत्र, वैशाख का महीना तपस्या के लिए उचित नहीं। सारी स्थितियों को देखकर ही तपस्या में स्वयं को नियोजित करना चाहिए।

दूसरी बात है कि जब तक अमंगल की भावना मन में पैदा न हो। जब तक आर्त्तध्यान न हो, तब तक तपस्या करनी चाहिए। तपस्या के संदर्भ में हमारा पूरा विवेक हो। विवेकहीन पुरुषार्थ कभी फलदायी नहीं होता। तपस्या ध्यान और स्वाध्याय के साथ होनी चाहिए, लेकिन ऐसा होता कहां है? कुछ लोग रात को तारे गिनकर काटते हैं और कुछ लोगों की रात पारणे की योजना बनाने में कटती है।

मैं तपस्या से भी ज्यादा महत्त्व देता हूं आहार-संयम को। तीन सौ पैंसठ दिन में अगर अठाई या मासखमण कर लिया तो शेष दिनों में क्या होगा? उसके लिए आपने कौन-सी योजना बनाई है? पहले शेष दिनों के लिए योजना बना लें, फिर तपस्या की योजना बनाएं। ऐसा नहीं होना चाहिए कि शेष दिनों को आप तपस्या से हुई कमजोरी की पूर्ति में लगाएं या आठ दिनों की या महीने भर के उपवास की कसर शेष दिनों में निकालें।

आहार-संयम और ऊनोदरी का समर्थन स्वयं आचार्य भिक्षु ने भी किया। उन्होंने कहा–ऊनोदरी में गुण घणा। पारणे के बाद या किसी भी समय अगर

तली हुई और गरिष्ठ चीजों से बचा जाए तो स्वास्थ्य संबंधी कोई समस्या नहीं आएगी। तपस्या का सही उद्देश्य पूरा होगा और उसका पूरा लाभ भी मिलेगा। खाने में यदि ऊनोदरी के सूत्र को ध्यान में रखा जाता है तो मैं इसे मासखमण से भी ज्यादा महत्त्व दूंगा।

स्वाद या स्वास्थ्य?

आजकल फास्ट फूड और मैदे से बनी चीजें स्वास्थ्य को बिगाड़ने का सबसे अच्छा और बढ़िया साधन है। स्वास्थ्य और स्वाद में बड़ा विरोध है। प्रायः स्वाद वाली चीजें स्वास्थ्य को हानि पहुंचाने वाली होती हैं। स्वास्थ्य चाहिए या स्वाद? पहले हमें इसका निर्णय करना होगा।

संयम कोई एक-दो दिन की साधना नहीं है। संयम का संबंध पूरे जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। संयम को सावधिक न बनाएं। यह कोई काल-विशेष से प्रतिबद्ध उपक्रम नहीं है। ऐसा नहीं कि केवल तपस्या के समय ही संयम का ध्यान रखा जाए। संयम की साधना तो हर पल, हर क्षण करनी है। संयम छूटा तो समझें कि जीवन की पाल टूट गई, फिर डूबने से कोई बचा नहीं सकता। संयम जीवन भर की तपस्या है। अगर यह जीवन भर की तपस्या आप स्वीकार करते हैं तो फिर आपको अलग से उपवास या तपस्या करना जरूरी नहीं है।

कुछ लोग बड़ी तपस्या करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। मैंने भी अपने जीवन में बड़ी तपस्या कभी नहीं की, लेकिन खाद्य संयम मेरा जीवन-व्रत रहा। उसे कभी गौण नहीं किया, उसकी कभी अवहेलना नहीं की। हर चीज में संयम को महत्त्व दिया।

स्वास्थ्य को जीभ से ज्यादा वरीयता दें। खानपान की आदत बिगड़ी तो समझें कि मुसीबतों के दिन शुरू हो गए। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं बताया जा सकता कि कोई भोजनभट्ट कभी कोई दिमागी या बौद्धिक काम कर सका हो। पेटू आदमी से संबंधित कई तरह के किस्से-कहानियां किताबों में और लोकजीवन में सुने जा सकते हैं, किंतु उन किस्सों का उपयोग हास-परिहास के संदर्भ में ही होता है। पेटू आदमी सबके उपहास का पात्र बनता है। उसके बारे में किसी की भी राय अच्छी नहीं होती।

आहार-संयम : बड़ी साधना

जिस व्यक्ति को लंबा आयुष्य प्राप्त करना है और स्वस्थ जीवन जीना है तो खाद्य संयम के सिवाय कोई दूसरा विकल्प नहीं है। शरीर की एक सीमा

है। शरीर के जो विभिन्न अवयव हैं, वे एक सीमा तक ही अपना कार्य करने में सक्षम होते हैं। अगर आप एक क्विंटल का वजन नहीं उठा सकते और जबर्दस्ती प्रयत्न करेंगे तो आपको हानि उठानी पड़ जाएगी। पाचनतंत्र के प्रभारी अवयव भी एक सीमा तक ही खाए हुए को पचा पाते हैं। अगर ज्यादा खा लिया तो अधिक आहार शरीर को बीमार बना देगा।

हम जो भोजन करते हैं उसको पचाने की सामग्री हमारे शरीर के भीतर है। अतिरिक्त खाए हुए को पचाने के लिए किसी गोली या चूर्ण की सहायता क्यों ली जाए? वह गोली या चूर्ण पचाने में थोड़ी मदद जरूर कर देगा, किंतु बहुत बड़े दुष्परिणाम को भी जन्म देगा। एक समय ऐसा आएगा, जब शरीर में पाचक रस बनना बंद हो जाएगा और भोजन को पचाने के लिए बाहरी उपायों पर ही निर्भर होना पड़ेगा। कोई भी बुद्धिमान और विवेक-संपन्न व्यक्ति इस स्थिति को क्यों आने देगा?

आहार-संयम के संदर्भ में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—ऊनोदरी और रस-परित्याग। मैं इन दोनों को विशेष महत्त्व देता हूं। यह बारहमासी तपस्या है। भोजन करें तो आयुर्वेद के नियमों के अनुसार करें। आयुर्वेद का नियम है कि भोजन हमेशा आधा पेट करें। आधा पेट पानी और वायु के लिए सुरक्षित रखें। जीवन के लिए सबसे अनमोल चीज है स्वास्थ्य और स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला मुख्य घटक है भोजन। इसे उलट कर यों भी कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य को अच्छा रखने वाली चीज है भोजन। विडंबना यह है कि भोजन को मात्र पेट भरने का साधन मान लिया गया और इसे स्वाद के साथ जोड़ दिया गया। इसका जो परिणाम आ रहा है, आदमी उसका भोक्ता होकर भी समझ नहीं पा रहा है या समझना नहीं चाहता।

खानपान के अविवेक ने आदमी के आयुबल को बहुत क्षीण कर दिया है। तीस-पैंतीस और चालीस वर्ष की आयु में काल कवलित हो जाना अकालमृत्यु ही है। आज का आदमी पूरा जीवन कहां जी पाता है? वह किसी रोग या व्याधि से ग्रस्त होकर मरता है या दुर्घटनाग्रस्त होकर मरता है? अपना खानपान बिगाड़कर जो मर रहे हैं, मैं उन्हें दुर्घटनाग्रस्त होकर मरना ही कहूंगा। आदमी दुर्घटना को स्वयं आमंत्रित कर रहा है। रही-सही कसर द्रुतगामी वाहनों ने पूरी कर दी है। किसी के पास दो क्षण रूकने का न समय है, न इतना धैर्य है। सामने रेल का फाटक बंद है तो दाएं-बाएं से निकलने की कोशिश करते हैं। यह सब क्या है? दुर्घटना को आमंत्रित करना ही तो है।

असंयम अकालमृत्यु का सबसे बड़ा कारण है। इसलिए इस विषय में गहरे चिंतन की जरूरत है। आहार ऐसा विषय है, जिस पर बहुत सारे ग्रंथ लिखे गए हैं। आज के संदर्भ में तो इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

उपवास : एक चिकित्सा

आहार-संयम एक महाप्रयोग है। महात्मा गांधी जीवन भर यह प्रयोग करते रहे। पश्चिमी लेखकों ने भी उपवास पर बहुत कुछ लिखा और प्रयोग किया। हमारे प्राचीन ग्रंथों में तो इस विषय पर बहुत ज्यादा लिखा गया। आचार्य तुलसी ने अपने जीवन में खाद्य-संयम के विविध प्रयोग किए और वे प्रयोग उनके जीवन में अंतिम समय तक चले।

'उपवास-चिकित्सा' एक मुख्य चिकित्सा पद्धति के रूप में आज उभर कर सामने आ रही है। आयुर्वेद में लंघन की बात विश्रुत है। यह भी देखा गया है कि असाध्य बीमारी से ग्रस्त होकर संलेखना या संथारा करने वाले उपवास के कारण स्वस्थता का अनुभव करने लगते हैं। छोटी-छोटी बीमारियां तो पहले ही भाग खड़ी होती हैं। लड़ाई में दुश्मन की सप्लाई-लाइन काट देना पहली रणनीति होती है। व्यावहारिक जीवन में भी देखा जा सकता है कि राशन-पानी बंद कर दिया जाए तो कौन मेहमान है, जो भूखों मरने के लिए टिका रहेगा? वह पिछले दरवाजे से खिसक जाएगा।

आचार्य तुलसी का यह आप्त वाक्य हमेशा सामने रखें–**विवेगे धम्म माहिए।** विवेक में ही धर्म है। धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है तपस्या। तपस्या के विवेक की बात स्मृति में सतत बनी रहे तो इससे बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है।

36. अभ्यास करें महातप का

साधना का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है तप। तप से भी ज्यादा मूल्य है महातप का। बहुत लोग तप करते हैं, पर महातप करने वाले बहुत विरल होते हैं। आहार न करना तप है और आहार के प्रति मूर्च्छा और आसक्ति छोड़ देना महातप है। आसक्ति बंधन है, दुःख है। यदि आसक्ति छूट जाए, मोह और मूर्च्छा छूट जाए तो फिर दुःख अपने आप समाप्त हो जाएगा। एक दिन एक युवक जिज्ञासा लेकर हमारे पास आया। वह युवक बहुत समृद्ध परिवार का था, पर उदास था। मैंने पूछा–आज तुम उदास कैसे लग रहे हो? वह बोला–महाराज! क्या बताऊं, मैं आ रहा था, मेरे पास सौ रुपये का नोट था, कहीं गिर गया। मैंने कहा–तुम तो संपन्न आदमी हो, करोड़ों की संपत्ति तुम्हारे पास है। यदि सौ रुपये का नोट गिर भी गया तो कौन-सी बड़ी बात हो गई? वह बोला–महाराज! आप तो सौ रुपये की बात कहते हैं, मेरा तो दो रुपये का भी नोट गिर जाता है तो उस दिन मन बैचेन हो जाता है, रोटी भी अच्छी नहीं लगती। प्रश्न है कि यह दुःख कहां से आया? यह दुःख पदार्थ से नहीं, पदार्थ से जुड़ी हुई आसक्ति से आया।

पदार्थ आता है, चला जाता है। पदार्थ न सुख देता है, न दुःख। उसके साथ जब हमारी आसक्ति जुड़ जाती है तो वही दुःख का कारण बन जाता है।

बड़ा तपस्वी कौन?

आहार का परिहार करना तप है। यह भी कठिन काम है, पर आहार की आसक्ति छोड़ देना बहुत बड़ी बात है। जिस व्यक्ति के मन में आहार के प्रति आसक्ति नहीं है, वह सबसे बड़ा तपस्वी होता है। अध्यात्म की साधना का प्रारंभ यहीं से होता है। जिसको यह भेद-विज्ञान हो गया कि आत्मा अन्य है, पुद्गल अन्य है, आत्मा अलग है, शरीर अलग है, वही परम साधक बन सकता है, लेकिन यह बहुत कठिन काम है। व्यक्ति का अपने शरीर के प्रति बहुत मोह होता है। वह हमेशा सजग रहता है कि मेरे शरीर के कहीं एक खंरोच

भी न आ जाए। लोग शरीर की बहुत सार संभाल करते हैं, शरीर के लिए बहुत समय लगाते हैं, क्यों? क्योंकि शरीर के प्रति मूर्च्छा है, आसक्ति है। शरीर की भांति वस्त्र के प्रति भी आसक्ति देखी जाती है। जब बढ़िया कपड़े मिलते हैं तो मन प्रसन्न हो जाता है। कोई साधु बन गया और अमुक प्रकार के कपड़ों पर मन अटक जाए तो यह साधना की कमी है।

शहर में एक संत रहते थे। राजकुमार अपनी समस्या लेकर संत के पास पहुंचा। वह अपने साथ बहुमूल्य कपड़े लेकर गया। संत अपनी कुटिया में थे, जब ज्ञात हुआ कि राजकुमार आया है तो बाहर आए। राजकुमार ने संत को नमस्कार किया, बातचीत की और जब जाने लगा तो प्रार्थना की–प्रभो! यह वस्त्र आप भेंट के रूप में स्वीकार करें। संत ने वस्त्रों को देखा और मुस्कराए। संत के पास तो अपने साधारण कपड़े थे। राजकुमार बहुत बढ़िया कपड़े लेकर आया था। संत ने उन कपड़ों को लेने का निषेध कर दिया। जब राजकुमार ने बहुत आग्रह किया तो संत ने कहा–मैं तुम्हें एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। तुम्हारे पास दस वर्ष से अथवा बीस वर्ष से एक नौकर काम कर रहा है। एक दिन कोई नया नौकर आया और बोला–मुझे आप नौकरी पर रख लें। क्या आप बीस वर्ष और दस वर्ष से काम करने वाले नौकर को निकाल कर नए आदमी को रखना चाहोगे। शायद नहीं, क्योंकि जो आदमी लंबे समय से सहयोग कर रहा है, जो निष्ठा से काम कर रहा है, उस को कोई भी कैसे निकालेगा? संत बोले–देखो! ये मेरे कपड़े, जब से मैंने संन्यास लिया है तब से मेरा साथ दे रहे हैं। अब भला इनको छोड़कर तुम्हारे नौकरों को मैं कैसे रखूं? राजकुमार का सिर श्रद्धा से झुक गया। वह संत को वंदना कर अपने महल में लौट आया और संत सीधे अपनी कुटिया में चले गए। यह है अनासक्ति। यह है त्याग की शक्ति का उदाहरण।

अध्यात्म का रहस्य क्या?

तपस्या साधना का सुंदर प्रयोग है, पर साथ-साथ में यह साधना भी होनी चाहिए कि वस्तु के प्रति जो मूर्च्छा है, वह कम होती चली जाए। तपस्या की उत्तर साधना भी होनी चाहिए। किसी व्यक्ति ने दस दिन, बीस दिन या तीस दिन की तपस्या की तो उसके बाद पारणे में पूरा संयम रहे। यह संयम तभी रह सकता है, जब अनासक्ति का विकास होता है। यह नहीं होना चाहिए कि जब खाना शुरू हुआ तो पीछे की सारी कसर निकाल दें, इसका मतलब है तपस्या का परिणाम नहीं आया। जो तपस्या से मिलना चाहिए, जो अमूर्च्छा की चेतना

जागनी चाहिए, वह जागृत नहीं हुई। जिसने अनासक्ति के मूल्य को समझ लिया, उसने अध्यात्म के रहस्य को समझ लिया।

एक बार एक श्रावक दर्शन करने आया। उसने कहा–महाराज! आज तो आपका मकान बहुत सुंदर है। मैंने कहा–तुम ने आज का सुंदर भवन तो देख लिया, पर तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि कभी-कभी हम अति-सामान्य मकानों में भी रहते हैं। आजकल तो गांवों में भी पक्के मकान मिल जाते हैं। एक समय था जब गांवों में तो पक्के मकान बहुत कम मिलते थे। प्रायः कच्चे मकानों में ही रहना होता था। गर्मी का मौसम होता और ऊपर से सूरज का ताप लगता। हमारे कपड़े पसीने से तरबतर हो जाते। हम बहुत बार ऐसे स्थानों में रहे तो कभी बड़े-बड़े आलीशान भवनों में भी रहे, लेकिन बढ़िया मकानों में रहे तो मूर्च्छा नहीं हुई और सामान्य या घटिया मकानों में रहे तो दुःख नहीं हुआ। बाहर और भीतर सदा एकरूपता रही। कारण क्या है? हमने मान लिया कि मकान मेरा नहीं है। जहां मेरापन नहीं होता वहां कोई भी चीज उपयोग में लें, कर्म का बंधन नहीं होगा। यदि बंधन होगा भी तो चिकना बंधन नहीं होगा। फिर न दुःख होगा और न कष्ट का अनुभव होगा!

दुःख का स्रोत कहां?

लोग वाहनों से यात्रा करते हैं। कुछ लोग बस से यात्रा करते हैं तो कुछ लोग ट्रेन से यात्रा करते हैं। कुछ लोग वायुयान से भी यात्रा करते हैं। हजारों की कीमत वाले वायुयानों से यात्रा करते हैं। जम्बो जेट जैसे वायुयान की यात्रा कितनी महंगी होती है? जब हवाई अड्डा आता है तो उतर जाते हैं। उस समय किसी भी यात्री को दुःख नहीं होता। कोई भी यह नहीं सोचता है कि अरे! इतने बढ़िया वायुयान में बैठा था, अब उतरना पड़ा। यह दुःख किसी को भी नहीं होता है। इसका कारण यही है कि हमने स्पष्ट मान रखा है कि यह वायुयान मेरा नहीं है, स्थायी नहीं है, इसलिए दुःख नहीं होता। जहां यह मान लिया जाता है कि यह कार मेरी है और उसकी चोरी हो जाती है तो दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है।

प्रश्न है कि यह दुःख कहां से पैदा होता है? यह दुःख 'मेरेपन' की अनुभूति से पैदा होता है। जहां यह भाव जुड़ गया कि यह मेरा है, वहीं से दुःख को आमंत्रण मिल जाता हैं। जहां मेरापन नहीं है, कोई कष्ट नहीं होता। समाचार पत्र में प्रतिदिन दुर्घटनाओं के बारे में संवाद आते हैं। बीस आदमी मारे गए, तीस आदमी मारे गए। आज नौका डूब गई, आज वायुयान गिर गया।

मन में एक क्षण के लिए विचार तो आता है कि देखो, अकारण ही आयुष्य की उदीरणा हो गई, पर दुःख नहीं होता है। उसी स्थान पर अपने किसी प्रिय या परिचित व्यक्ति की दुर्घटना हो जाए तो आदमी अवसाद में चला जाता है।

दुःख का स्रोत कहां है? दुःख की जड़ कहां है? इस बात को समझने का प्रयत्न करें तो लगेगा कि जहां मेरापन है, जहां ममता है, वहां दुःख है। ममता की चेतना को छोड़ देना, ममता की बुद्धि को छोड़ देना, हजारों दुःखों से मुक्ति पा लेना है। मैं तो मानता हूं कि दुःख वास्तव में है ही नहीं। दुःख का निर्माण हम स्वयं करते हैं, क्योंकि दुःख का स्रोत ममत्व।

दर्शन अनासक्ति का

गीता में अनासक्त-योग पर बहुत बल दिया गया है। जैन धर्म में समता पर बहुत बल दिया गया है, ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है। गीता का अनासक्त योग प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण कहते हैं–कर्म करो, पर आसक्त होकर मत करो। किसी के हाथ में कपड़ा है, उसका मूल्य है, इसलिए परिग्रह है। परिग्रह है तो फिर हम कैसे काम में लें? बहुत बड़ा प्रश्न हमारे सामने है। कपड़ा भी परिग्रह है, भोजन भी परिग्रह है। एक साधु किसी के घर गोचरी गया। गृहस्थ ने एक किलो दूध उनके पात्र में डाल दिया। जब तक वह दूध गृहस्थ के पात्र में था, तब तक तो परिग्रह था यानी उसका था। जब वही दूध मुनि के पात्र में डाल दिया गया, वह अपरिग्रह हो गया। प्रश्न होता है कि अब मूल्य कहां गया? मूल्य तो उतना ही है, गृहस्थ के बर्तन में है तब तक परिग्रह है और मुनि के पात्र में चली गई तब वही चीज अपरिग्रह बन गई। एक कीमती वस्त्र है। गृहस्थ के पास है तो परिग्रह और मुनि को दे दिया तो अपरिग्रह हो गया। अब उसका मूल्य कहां गया और उसी कपड़े को कोई चुरा ले और बाजार में जाकर बेचे तो वापस दो हजार रुपया कमाया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि वस्तु का मूल्य नहीं गया, उसका परिग्रहत्व चला गया। दशवैकालिक सूत्र में बहुत सुंदर कहा गया है –

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा।

जो भी वस्त्र, पात्र, कंबल और रजोहरण हैं उन्हें एक मुनि संयम की साधना के लिए और लज्जा-निवारण के लिए धारण करता है। भगवान

महावीर ने वस्त्र, पात्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने मूच्र्छा को परिग्रह कहा है।

तपस्या का अर्थ केवल आहार छोड़ना नहीं है। तपस्या का अर्थ है आहार के साथ-साथ आसक्ति पर विजय पाते। तपस्या कोई भी व्यक्ति कर सकता है। प्रश्न है महातप करने वाले कितने लोग हैं? उपभोक्तावादी युग में बाजार में नए-नए आइटम्स आ रहे हैं, उनको देखकर व्यक्ति के मन में आकर्षण पैदा हो जाता है, क्योंकि भीतर में मूच्र्छा है, आसक्ति है। हमें तपस्या का नहीं महातप का अभ्यास करना है। महातप की साधना का अभ्यास ही हमें अपने लक्ष्य के निकट ले जाएगा। इसलिए हम महातप की दिशा में अपने कदम आगे बढ़ाएं। जीवन की सार्थकता का बहुत बड़ा सूत्र है महातप का अभ्यास।

37. त्याग

एक व्यक्ति मंदिर में बैठा था। संध्या की बेला थी। पुजारी आया। दीप जलाया, भगवान की आरती की। दीप को दीवट पर लाकर रख दिया। वह दीवट के सहारे बैठा था। उसने देखा–पतली-सी दीपशिखा पवन के इशारे पर इधर-उधर घूम रही है। उसमें एक बहुत पतली-सी धूमशिखा निकल रही है। मन-ही-मन सोचा–त्याज्य को त्यागना अनिवार्य है।

दीप इसीलिए प्रकाश दे रहा है कि वह त्याज्य का त्याग कर रहा है। हम प्रातःकाल घूमने जाते हैं। चलते-चलते पूरक करते हैं, धीमे-धीमे प्राणवायु को भरते हैं, फिर उसका रेचन करते हैं, बहुत धीमे-धीमे उसे छोड़ते हैं। हम केवल प्राणवायु को ही नहीं छोड़ते, उसके साथ दूषित वायु या कार्बन को भी छोड़ते हैं। हम इसीलिए स्वस्थ हैं कि त्याज्य को त्यागना जानते हैं।

त्याग की महत्ता

जीवन का सूत्र है–काम में लो और त्याग दो। जो इस सूत्र से परिचित हैं, उनके जीवन में प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है। जो इस सूत्र से परिचित नहीं हैं, केवल लेना जानते हैं, भोग करना जानते हैं, किंतु त्याग करना नहीं जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है, न सुख और न स्वास्थ्य।

जो धन का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धूंए को अपने भीतर संचित करते हैं।

जो सत्ता का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित करते हैं।

त्याग की प्रतिध्वनि केवल अध्यात्म के मंदिर में ही नहीं हो रही है, व्यवहार के कण-कण में भी त्याग प्रतिबिंबित हो रहा है।

उदाहरण दशार्णभद्र का

यदि मनुष्य त्याग की सत्ता से परिचित नहीं होता तो वह स्वतंत्र और सम्मानपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। दशार्णभद्र दशार्णपुर का राजा था। वह

भगवान महावीर को वंदना करने आया। उसे अपने वैभव पर गर्व हो रहा था। इन्द्र भी भगवान की वंदना करने आया। उसका वैभव देख दशार्णभद्र लज्जित हो गया। गर्व का पारा नीचे को देख चढ़ता है और ऊपर को देख उतर जाता है। दशार्णभद्र के गर्व का पारा सहसा उतर गया। अब उसके सम्मान की सुरक्षा संभव नहीं रही। दशार्णभद्र ने उस सत्ता को त्याग दिया, जो प्रकाश पर आवरण डाल रही थी। उसके आत्मिक वैभव के सामने इन्द्र का सिर झुक गया।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझाता है और त्याग से वह खिलता है।

दशार्णभद्र ने राज्यसत्ता को ही नहीं त्यागा, उसकी वासना को भी त्याग दिया। विषय दुनिया के अंचल में हैं और वासना हमारे मन के कोने में है। विषय को त्यागकर हम वासना की जड़ उखाड़ने के लिए आगे बढ़ें, वह त्याग है। विषय को त्यागकर यदि हम वासना को उद्दीप्त करें तो वह त्याग नहीं, त्याग का आभास है।

सच यह है कि लोग विषय को त्यागने की बात जितनी जानते हैं, उतनी वासना को त्यागने की बात नहीं जानते। इसीलिए हम बहुत बार त्याग करके अत्याग की अनुभूति करते हैं।

त्याग तभी होता है, जब अनुराग का स्रोत बाहर से मुड़कर भीतर बहने लग जाता है। एक व्यक्ति ने आवेगों को सहलाते हुए कहा–'बंधुवर क्रोध! तुम अपना दूसरा घर ढूंढ लो। भाई मान! तुम भी चले जाओ। देवी माया! तुम यहां नहीं रह सकती। मित्र लोभ! तुम भी चले जाओ। मेरे अनुराग का स्रोत अब भीतर प्रवाहित होने लगा है। इसीलिए वह और तुम एक साथ नहीं रह सकते।'

वासना को देखते रहो, उसकी सत्ता हिल उठेगी और विषय की आसक्ति अपने आप विलीन हो जाएगी।

38. त्याग करें मूर्च्छा का

आत्मा को पढ़ने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है त्याग। आत्मा की सन्निधि में जाने के लिए त्याग बहुत जरूरी है। त्याग किसका करना है? इसका विवेक आवश्यक है। त्याग करना है भावदोष का। त्याग यानी मूर्च्छा का त्याग। मूर्च्छा आत्म-साक्षात्कार में बाधक है। आसक्ति का एक लेप बनता है, एक आवरण बनता है। उस आवरण को भेदकर ही कोई व्यक्ति आत्मा तक जा सकता है, आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

भावदोष का आलंबन

भावदोषो न निरालम्बो–भावदोष आलंबन के बिना नहीं होता। भावदोष का आलंबन होता है और वह आलंबन है पदार्थ। पदार्थ से आसक्ति पैदा होती है। हमें पदार्थ के कारण उत्पन्न होने वाले भावदोष या आसक्ति का त्याग करना है। इसके साथ-साथ भावदोष को पैदा करने वाली वस्तु को भी त्यागना है। इस तरह त्याग के दो प्रकार बन गए–एक है पदार्थ का त्याग और दूसरा है भावदोष का त्याग। हमें दोनों का त्याग करना है। मूलतः हमें भावदोष अर्थात् मूर्च्छा को छोड़ना है।

त्याग शरीर की मूर्च्छा का

भावात्मक दोष पैदा करनेवाला एक निमित्त है शरीर। निमित्तों के प्रति हमारा ध्यान जाना बहुत जरूरी है। कौन निमित्त बन रहा है? मूर्च्छा क्यों पैदा हो रही है? शरीर निमित्त बनता है, इसलिए हमें शरीर का विसर्जन करना है। शरीर के प्रति आसक्ति का त्याग करना है। इसी का नाम है कायोत्सर्ग। एक साधक जब कायोत्सर्ग करता है तो कायोत्सर्ग का पाठ बोलता है–**ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि**–मैं स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा इस शरीर का विसर्जन करता हूं। जिसने शरीर का विसर्जन कर दिया, वह आत्मा तक पहुंच सकता है। जब तक शरीर में लगा हुआ है, तब तक वह आत्मा तक नहीं पहुंच सकता। एक प्रक्रिया बतलाई गई भेदविज्ञान की। आत्मा भिन्न है और शरीर

भिन्न है, यह अनुभूति शरीर का विसर्जन है, शरीर का त्याग है। शरीर का त्याग कर दिया, इसका अर्थ है मैं इसे मात्र काम में ले रहा हूं, यह मेरा नहीं है। जब यह चेतना जाग जाए तो समझना चाहिए कि शरीर का विसर्जन हो गया।

एक मंदबुद्धि मुनि अपनी अज्ञता पर हर समय खिन्न रहता। उसकी खिन्नता दूर करने के लिए गुरु ने एक आलंबन-सूत्र दिया–**मा रुष, मा तुष–**किसी पर द्वेष मत करो और किसी पर राग मत करो। उस मंदबुद्धि मुनि को वह लघु वाक्य भी याद नहीं रहा। मा रुष मा तुष के स्थान पर वह मासतुस रटने लगा, जिसका अर्थ होता है–उड़द का छिलका। उस मुनि ने मासतुस के अर्थ को पकड़ लिया–जैसे मास अलग है तुस अलग है, छिलका अलग है धान अलग है, वैसे ही आत्मा अलग है शरीर अलग है। उसको रटना शुरू कर दिया। रटते-रटते भेदविज्ञान हो गया और वह परम ज्ञानी बन गया। जिस व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा अलग है शरीर अलग है, वह शरीर का विसर्जन कर देता है। वह शरीर के भावदोष का त्याग कर देता है और परम ज्ञान तक पहुंच जाता है।

विसर्जन का एक प्रकार है–आहार का विसर्जन। बहुत लोग उपवास करते हैं। लंबी तपस्याएं करते हैं, एक महीना तक आहार का त्याग कर देते हैं। शरीर का त्याग, आहार का त्याग और फिर उपधि का त्याग अर्थात् वस्त्र, मकान, पात्र, आभूषण आदि-आदि का त्याग। त्याग को हम तीन भागों में बांट लें–पहला शरीर का त्याग, दूसरा पदार्थ का त्याग और तीसरा उसके निमित्त से होने वाले भावदोष का त्याग। जब यह तीनों प्रकार का त्याग होता है तभी उसमें समग्रता आती है। केवल पदार्थ को छोड़ा और मूर्च्छा नहीं छोड़ी तो पूरा त्याग नहीं हुआ। केवल मूर्च्छा का त्याग किया और पदार्थ का त्याग नहीं किया तो भी खतरा सिर पर मंडराता रहेगा। पता नहीं कब पुनः मूर्च्छा जाग जाए। दोनों का त्याग करना जरूरी है। कुछ लोग कहते हैं कि जब हमने आसक्ति को छोड़ दिया, मूर्च्छा को छोड़ दिया तो फिर पदार्थ को छोड़ने की जरूरत क्या है? लोग यह भी कहते हैं कि मैंने अमुक काम किया, जो उपयुक्त नहीं था, पर मेरा मन शुद्ध था। अरे! मन शुद्ध कहां से हुआ? जब तुमने पदार्थ को नहीं छोड़ा, तब मन कहां से शुद्ध होगा? दोनों का त्याग जरूरी है।

परिग्रह के दो प्रकार

परिग्रह के दो प्रकार है–एक बाहरी परिग्रह और एक आंतरिक परिग्रह। पदार्थ बाहरी परिग्रह है और मूर्च्छा आंतरिक परिग्रह है। बाहर का परिग्रह नौ

प्रकार का बतलाया गया है और भीतर का परिग्रह चौदह प्रकार का बतलाया गया है। भीतर का परिग्रह छूटेगा तभी वास्तव में त्याग होगा। भीतर का परिग्रह बड़ी समस्या पैदा करता है। आसक्ति समस्या को जन्म देती है। एक आदमी धन का बहुत लोभी था। उसने खूब धन इकट्ठा किया। उसने बहुमूल्य सोना, रत्न, मोती आदि तिजोरी में रख दिया। उसका ध्यान हर समय उसी में लगा रहता, पर कहा जाता है कि धन के भी हिस्सेदार बहुत होते हैं। चोरों का भी धन में हिस्सा होता है। चोर वहां पहुंच गए और तिजोरी उठाकर ले गए। अब वह पागल जैसा हो गया। वह रोने लगा, चिल्लाने लगा। रात को नींद नहीं लेता। सब परेशान हो गए। उसे बहुत समझाया गया, पर समझा नहीं। एक दिन पड़ोसी आया, आकर बोला–भैया! क्यों रो रहे हो? मेरी तिजोरी चली गई। उसने कहा–तू समझता ही नहीं तुम्हारी तिजोरी तुमसे पहले स्वर्ग में पहुंच गई और वह वहां तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम यहां रो रहे हो और वह वहां रो रही है कि मेरा मालिक अभी तक नहीं आया। वह बोला–अच्छा यह बात है क्या? उसने रोना बंद कर दिया। एकदम विचार बदल गया। आसक्ति टूट गई। सचमुच आसक्ति का छूटना बड़ा कठिन काम है।

जब तक हम आलंबनों पर विचार नहीं करेंगे, निमित्तों पर विचार नहीं करेंगे और आलंबनों का त्याग नहीं करेंगे, तब तक समाधान नहीं होगा। पदार्थ का संग्रह करते चले जाएं और कहते रहें कि मैं तो अनासक्त हूं। अरे! कौन से तुम नमिराजर्षि ज्यों विदेह बन गए। कोई-कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो सबकुछ पास में होते हुए भी अनासक्त रह सकता है। हर आदमी ऐसा नहीं हो सकता। जहां पदार्थ का संग्रह है वहां आसक्ति पनपती चली जाती है। बहुत सारे लोग ऐसे हैं, जो पूरा खाते भी नहीं हैं, देते भी नहीं हैं, काम में भी नहीं लेते, केवल संपत्ति देखकर खुश होते रहते हैं। वह संपत्ति किसके काम आएगी?

मूर्च्छा के कारण आदमी अति संग्रह करता है और मूर्च्छा के कारण ही अनर्थ करता है, अनैतिकता और अप्रमाणिकता का व्यवहार करता है। हम इस सचाई को जानते हैं कि एक दिन सब चले जाएंगे, आज से सौ वर्ष पहले जो लोग थे, आज उनमें से कितने हैं? कोई पांच-दस मिल जाएं तो बड़ी बात है। हर गांव की, हर शहर की यही स्थिति है। सौ वर्ष पहले, एक सौ पचीस वर्ष पहले कौन थे, आज उनका पता ही नहीं है। कहा जाता है–**ना नंदल की नौ रही ना बीसल की बीस**–पुराने जमाने में नंद राजा ने नौ सोने की डूंगरियां बनाई थी, जैसे गोपालपुर की डूंगरी आदि। राजा बीसल ने सोने की बीस

पहाड़ियां बनाई थी। आज न तो वे पहाड़ियां हैं और न बनाने वाले के नाम का पता है।

मोह नहीं होता तो दुनिया नहीं चलती, समस्या सुलझ जाती। एक मूर्च्छा के कारण, मोह के कारण यह सबकुछ चल रहा है।

त्याग करें विकार का

त्याग धर्म है। सबसे पहले हमें मूर्च्छा का त्याग करना है। बहुत सारे लोग त्याग की लंबी सूची बना लेते हैं, उनको पहले यह सोचना चाहिए कि त्याग विषय का किया है या विकार का किया है। दो शब्द आते हैं–एक विषय और एक विकार। वस्तु का त्याग कर दिया, वह विषय का त्याग है। विकार उस वस्तु के प्रति होने वाली आसक्ति है। प्रश्न होता है कि मन का जो विकार है, उसको छोड़ा या नहीं छोड़ा? जब तक विकार नहीं छूटता, तब तक कुछ नहीं होता, विकार छूटे बिना केवल वस्तु छोड़ देना पर्याप्त नहीं है। त्याग कर दिया कि अमुक चीज नहीं खाऊंगा। खाने बैठा और वही चीज याद आ जाती है। फिर वह बहाना ढूंढ़ता है।

एक व्यक्ति तीर्थ यात्रा पर गया। पंडित के कहने से आलू छोड़ दिया, लेकिन मन से नहीं छूटा था। एक दिन कोई मसालेदार व्यंजन बन रहा था और उसकी सुगंध आ रही थी। मन खाने को आतुर हो गया, क्या करे? सबके सामने खा नहीं सकता, पर परोसते समय करछी से पांच-चार आलू नीचे गिर गए थे। उसने तुरंत उन्हें उठाया और खा लिया। लोगों ने कहा–आपने तो आलू छोड़ रखे हैं। अरे! समझते नहीं हो, ये आलू थोड़े ही हैं, यह तो गुड़कन है, गुड़कते-गुड़कते यह मेरे पास आ गया। मैंने तो इस गुड़कन को खाया है। जब तक विकार नहीं छूटता, त्याग परिपूर्ण नहीं होता। विकार का त्याग और साथ-साथ में विषय का त्याग। दोनों का त्याग होता है तब वास्तव में त्याग होता है। इसलिए ठीक कहा गया है कि भावदोष का त्याग करना त्याग है और उसके आलंबन का त्याग करना भी त्याग है। इस अवस्था में एक अमूर्च्छा की चेतना जागृत होती है और वह अमूर्च्छा की चेतना आत्मा का साक्षात्कार करा देती है। इसलिए हम यदि आत्मा को समझना चाहें, आत्मा को पढ़ना चाहें और आत्मा से साक्षात्कार करना चाहें तो हमें मूर्च्छा और मूर्च्छा के आलंबनभूत पदार्थ–दोनों के त्याग पर विचार करना चाहिए।

39. जागरण हो त्याग की चेतना का

एक धार्मिक आदमी के लिए दो शब्द बहुत ध्यातव्य हैं–कर्मबंध और कर्ममुक्ति। एक व्यक्ति धर्म में विश्वास करे या नहीं करे, पर बंधन और मुक्ति– इन दो के बारे में उसे अवश्य सोचना चाहिए। मैं कहां-कहां बंधा हुआ हूं और कहां-कहां मुक्त हूं? इन दोनों पर चिंतन करना आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। जिसमें अध्यात्म की चेतना है, जो आत्मा को पवित्र रखना चाहता है, उसके लिए यह चिंतन जरूरी है कि मैं नया बंधन न करूं, नए कर्म संचित न करूं और जो पहले किए हुए कर्म हैं, उनका भी विरेचन करूं, शोधन करूं।

निरोध और शोधन

अध्यात्म-जगत के दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं–निरोध और शोधन। व्यवहार की भाषा में कहें तो कहना होगा कि नई समस्या पैदा मत करो और पुरानी समस्या सुलझाओ। अगर परिवार को अच्छा रखना है, समाज को अच्छा रखना है, संगठन को अच्छा रखना है तो यह चिंतन बहुत जरूरी है कि नई-नई समस्या पैदा न हो। समझदार व्यक्ति कभी नहीं चाहते कि हमारे संगठन में नई-नई समस्याएं पैदा हों। वे यह चाहते हैं कि हमारा संगठन, हमारा समाज, हमारा परिवार समस्या से मुक्त रहे। यह जागरूकता है, अप्रमाद है। प्रश्न होगा कि जो पुराना है, उसका क्या करें? उसका शोधन करो, जितनी पुरानी समस्याएं हैं उनको सुलझाओ और नई पैदा मत करो। इस प्रक्रिया से ही समस्या-मुक्त व्यक्ति, समस्या-मुक्त परिवार, समस्या-मुक्त संगठन और समस्या-मुक्त समाज का सपना फलवान बन सकता है।

हम आत्मा की पवित्रता चाहते हैं। धर्म करने वाला इस पवित्रता के उद्देश्य से ही धर्म करता है। ज्ञातव्य है कि धर्म के ये दो बड़े सूत्र हैं–नए कर्मों का प्रवेश न हो और पुराने कर्म समाप्त हों। तभी पवित्रता रहेगी और आत्मा की शांति भी रहेगी। कर्म का बंधन होता रहा और उधर सुलझाने का प्रयत्न भी चलता रहा तो यह होगा कि आगे का द्वार तो बंद कर दिया, पर पीछे का दरवाजा बंद नहीं है।

इसे न्याय शास्त्र की भाषा में कहते हैं–**हस्ति-स्नान**। हाथी नदी में जाता है, स्नान करता है, स्वच्छ हो जाता है और जैसे ही वापस निकलता है, नदी के किनारे पर आकर दलदल को सूंड से लेकर उछालता है और पूरे शरीर को कीचड़ से भर लेता है। हमें **हस्ति-स्नान** की तरह नहीं होना चाहिए। निरोध के बिना शोधन कार्यकारी नहीं होता। इसलिए हम शोधन और निरोध–दोनों करना सीखें।

संवर और निर्जरा

जैन तत्त्व मीमांसा में निरोध और शोधन के वाचक दो शब्द हैं–संवर और निर्जरा। संवर का अर्थ है–निरोध, नए सिरे से कर्म का बंधन नहीं करना। व्यक्ति इसीलिए कहता है कि मैंने प्रत्याख्यान कर दिया, त्याग कर दिया, अब इस विषय के कर्म का बंधन नहीं होगा। उदाहरण के लिए किसी ने क्रोध पर विजय पा ली है तो वह कहेगा कि अब मेरे क्रोध से होने वाला कर्मबंध नहीं होगा, उससे मैं मुक्त हो गया हूं। मैंने अमुक चीज खाने का प्रत्याख्यान कर लिया। अब मैं अमुक चीज नहीं खाऊंगा तो उससे होने वाला कर्म का बंध समाप्त हो गया। संवर बहुत जरूरी है। दरवाजा खुला है और आंधी है तो धूल जरूर आएगी। एक दिन हमने देखा अचानक वर्षा के साथ तूफान-सा आया। भीतर कमरे में धूल आने लग गई। किवाड़ बंद किया तब धूल का आना बंद हो गया। बंद करने की चाबी हमारे हाथ में चाहिए। द्वार को खुला मत छोड़ो। कभी-कभी खुलापन समस्या पैदा कर सकता है।

एक आदमी बहुत कंजूस था, उसके हृदय का रोग हो गया। हृदय का प्रत्यारोपण कराया, प्रत्यारोपण अच्छा हो गया। एक दिन उस मरीज की पत्नी डॉक्टर के पास गई। जाकर बोली–डाक्टर साहब! आपने मेरे पति का क्या कर दिया? उन्होंने कहा– ठीक तो है? हां, उनके तो ठीक है, लेकिन मेरे ठीक नहीं है। क्या हुआ? उसने कहा–पहले तो इतने कंजूस थे कि दो पैसा देना मुश्किल था। इस चिकित्सा के बाद तो इतने उदार बन गए कि सारे घर को ही लुटा रहे हैं। यह क्या कर दिया? पहले मुट्ठी बंद थी और अब इतना खुलापन आ गया है कि कोई सीमा ही नहीं है। खुला छोड़ना ठीक नहीं है, बंद करना भी जरूरी होता है। किवाड़ को बंद करना भी सीखें। आंधी आती है, आदमी किवाड़ को बंद कर देता है। सर्दी है तो भी बंद कर देता है, धूप आती है तो भी बंद कर देता है। वह देखता है कि कोई भी समस्या पैदा होने वाली है तो किवाड़ को बंद कर देता है। पहले हम किवाड़ को बंद करें और जब बंद कर दिया तो भीतर की सफाई भी कर सकते हैं। खुला है तो उधर से रेत आती चली जाएगी और

इधर से सफाई करते चले जाएंगे। उस दरवाजे से रेत आ रही है, इस दरवाजे से सफाई कर रहे हैं, क्या होगा? कहावत है–आंधी पीसे कुत्ता खाए। एक अंधी स्त्री चक्की में आटा पीस रही थी। कोई संयोग की बात कि कुत्ता घर में आ गया, पता चला नहीं। वह तो पीसती जा रही है, कुत्ता चाटता जा रहा है।

मंतव्य आयुर्वेद का

सूत्रकार ने निरोध के साथ शोधन का बहुत सुंदर सूत्र दिया है। चाहे इसको हम स्वास्थ्य के संदर्भ में लें, चाहे समस्या के संदर्भ में लें, चाहे आध्यात्मिक साधना के विषय में लागू करें। एक सूत्र की व्याख्या अनेक कोणों से की जा सकती है। इसकी आध्यात्मिक व्याख्या यही है कि नए कर्म का बंध न हो, कर्म के आने का दरवाजा बंद रहे। आश्रव का दरवाजा खुला न रहे और जो पुराना है उसकी निर्जरा करो, शोधन कर दो, सफाई कर दो तो आत्मा पवित्र बन जाएगी। जहां पवित्रता का प्रश्न है, जहां स्वास्थ्य का प्रश्न है, जहां समाधान का प्रश्न है, जहां शांति का प्रश्न है, वहां दोनों चीजों को अपनाना जरूरी है।

आत्मा की पवित्रता कब होगी? जब संवर होगा। तत्त्व की दृष्टि से विवेचन करें तो एक मिथ्यादृष्टि धर्म की आराधना भी करता है, पर पूरा काम नहीं होता, क्योंकि शोधन तो कर रहा है, पर निरोध की शक्ति का उसमें विकास नहीं है। जब तक निरोध की शक्ति विकसित न हो, कोरा शोधन काम नहीं देता। चिकित्सा के क्षेत्र में दो शब्द चलते हैं –Cure and Prevention। Cure अर्थात् बीमारी को मिटाओ, इससे ज्यादा जरूरी है Prevention अर्थात् सुरक्षात्मक प्रयत्न करो, जिससे बीमारी पैदा न हो। आयुर्वेद का यह बहुत पुराना सूत्र रहा। प्रश्न आया कि दवा कौन-सी अच्छी है? हजारों प्रकार की दवाएं हैं। किसको अच्छा बताएं। एक को अच्छा बताएं तो दूसरा कहेगा कि अमुक दवा नहीं, अमुक दवा ज्यादा अच्छी है। एक समाधान दिया गया जो रोग मिटाए और नया रोग पैदा न करे, वह दवा सबसे बढ़िया दवा है। यह समस्या Allopathic के साथ जुड़ी हुई समस्या है। एलोपेथी में कभी-कभी दवा दी और Reaction हो जाता है। नई समस्या पैदा हो जाती है। कुछ दिन पहले एक परिवार आया, बताया कि मलेरिया में इतनी तेज दवा दे दी गई कि उसको सुनाई देना बंद हो गया, पैर भी निकम्मे हो गए। यह Reaction होता है तब पुरानी समस्या मिट जाती है, पर नई समस्या पैदा हो जाती है, यह अच्छा नहीं होता। वह औषध अच्छी है, जो बीमारी को मिटाए और नई बीमारी पैदा न करे। इसलिए दोनों शब्द काम के हैं–निरोध और शोधन।

चित्तवृत्ति का निरोध

योग के क्षेत्र में भी इन दोनों शब्दों का बड़ा मूल्य है। योग विद्या में साधना की दृष्टि से यही बताया गया है कि मन का, चित्तवृत्ति का निरोध करो।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में लिखा–**चित्तवृत्तिनिरोधो योगः**–चित्तवृत्ति का निरोध करना योग है। आचार्य तुलसी ने एक ग्रंथ लिखा–**मनोनुशासनम्।** योग का बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में दोनों बातें बतलाई गई हैं–निरोध करो और साथ में शोधन भी करो। कोरा रोक दिया, अगर शोधन नहीं किया तो फिर प्रयोजन पूरा नहीं होगा। प्राकृतिक चिकित्सा की पद्धति में भी शोधन पर बहुत बल देते हैं। शोधन के साथ निरोध भी होता है। शोधन और निरोध–इन दो शब्दों का हम हर क्षेत्र में उपयोग कर सकते हैं। नई समस्या पैदा न हो इसके प्रति जागरूक रहो, किंतु पुरानी समस्या की उपेक्षा मत करो। उसे सुलझाने का प्रयत्न करो। जो पुरानी उलझन है पता नहीं कब सामने आ जाए? कब की बात कब उखड़ जाती है, कब का दोष कब सामने आ जाता है? इसलिए शोधन करना बहुत जरूरी है। जहां समस्या की उपेक्षा होती है, वहां अच्छा नहीं होता। इसलिए समस्या की उपेक्षा मत करो। उसे सुलझाने का प्रयत्न करो। कांटा भीतर नहीं रहे। कांटा भीतर रहता है तो वह कुछ न कुछ समस्या पैदा करता रहता है। अच्छा है कि कांटे को ही निकाल दिया जाए। दोनों बातें हमारे सामने हैं–नए का निरोध और पुराने का शोधन। आध्यात्मिक दृष्टि से हमने विचार किया। व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया, स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार किया और शोधन की दृष्टि से विचार किया।

मकान को भी साफ रखना है तो आदमी क्या करता है? शोधन से पहले निरोध करता है। हम बहुत बार देखते हैं कि सफाई करने वाले आदमी आते हैं, उस समय पंखा चलता है तो बंद कर देते हैं, क्यों? किवाड़ खुला है तो बंद कर देते हैं, क्यों? क्योंकि खुला है तो कचरा आ सकता है। खुले में कोई भी आ सकता है। घर का दरवाजा खुला है, आदमी भी आ सकता है, पशु भी आ सकता है, गाय भी आ सकती है, गधा भी आ सकता है, इसलिए खुलावट न रहे। दरवाजा बंद रहे।

निरोध और शोधन की प्रक्रिया : कायोत्सर्ग

निषेध की भी एक प्रक्रिया होती है। निरोध की भी एक प्रक्रिया है कि हम निरोध कैसे करें? शोधन की भी अपनी प्रक्रिया है कि हम शोधन कैसे करें? जब तक हम प्रक्रिया को नहीं जानते, तब तक केवल शब्द के उच्चारण मात्र

से और केवल लिखने मात्र से न निरोध होता है, न शोधन होता है। संवर कब होता है? उसकी भी प्रक्रिया है और निर्जरा की भी प्रक्रिया है कि निर्जरा कैसे होती है? उस प्रक्रिया को जानना शायद तत्त्व ज्ञान का बहुत बड़ा विषय है। निरोध करना है तो उसके लिए त्याग की शक्ति का विकास जरूरी है, उसके लिए नियंत्रण की शक्ति का विकास जरूरी है।

आजकल बहुत लोग Hospital की अपेक्षा स्वास्थ्य चेतना केन्द्र खोलना पसंद करते हैं, जहां यह सिखाया जाता है कि तुम इस प्रकार का आचार-व्यवहार रखो तो बीमारी नहीं होगी, वहां लोगों को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक बनाया जाता है। धार्मिक लोगों को भी इस विषय में जागरूक बनना है कि कर्म का निरोध कैसे हो सकता है? निरोध और शोधन की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है–कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग एक ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा निरोध भी होता है, शोधन भी होता है। शिथिलीकरण हो गया। काया की चेष्टा को बिल्कुल कम कर दिया, इतना मंद कर दिया कि कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होता है मानो मेरा शरीर कहीं चला गया। इस भूमिका तक पहुंचा जा सकता है और इस भूमिका तक पहुंचने पर ही संवर की स्थिति बनती है। वह संवर की स्थिति है हमारी काया की प्रवृत्ति का निरोध। इसका मतलब है काया का संवर। संवर तीन प्रकार का होता है–मन का संवर, वाणी का संवर और काया का संवर। जब हमारा शरीर इस स्थिति में पहुंच जाता है और ऐसा लगता है कि कोई प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस स्थिति में काया का संवर हो जाता है, निरोध हो जाता है। उस अवस्था में न नया कर्मबंध होगा, न कोई बीमारी भी आएगी।

कायोत्सर्ग और स्वास्थ्य

कायोत्सर्ग स्वास्थ्य का भी बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। कायोत्सर्ग शतक में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है कि कायोत्सर्ग से कितनी बीमारियां समाप्त हो जाती हैं। कायोत्सर्ग चिकित्सा का भी शक्तिशाली उपाय है। जब शरीर बिल्कुल शिथिल होगा, हमारी रक्त संचार की प्रणाली मुक्त हो जाएगी। बीमारी का बहुत बड़ा कारण है कि रक्त संचार का ठीक नहीं होना। जहां रक्त संचार ठीक नहीं होता, वहां शून्यता आ जाती है। अगर हाथ में रक्त पूरा नहीं पहुंचा तो हाथ निकम्मा हो जाएगा। एक भाई ने बतलाया कि उसकी पत्नी के दिमाग में रक्त पहुंचाने वाली नर्व खराब हो जाने से दिमाग में रक्त-संचार कम हो गया, जिससे दिमाग सुन्न सा हो गया। उदाहरण के लिए पानी की पूरी सफाई

नहीं होती तो गंदी नाली सड़ांध पैदा करती है और जब पानी पूरा आए, नाली साफ हो जाए तो सड़ांध भी नहीं रहती। इसी तरह रक्त-संचार तंत्र हमारे पूरे शरीर को स्वस्थ रखने की प्रणाली है। जहां शरीर में तनाव है वहां रक्त-संचार कम हो जाएगा। लहू के थक्के भी बन जाएंगे।

कायोत्सर्ग शिथिलीकरण की प्रक्रिया है। जब हम शिथिल होते हैं तब कहीं कोई अवरोध नहीं रहता और शरीर में रक्त का सम्यक् संचार होता है। जब हम खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते हैं तो कहीं कोई अवरोध नहीं रहता, पूरे शरीर में रक्त का संचार होने लगता है। लेटकर भी कायोत्सर्ग किया जा सकता है। बैठकर करने में थोड़ा अवरोध आ सकता है। आजकल तो डॉक्टर कहते हैं कि पालथी लगाकर भी मत बैठो। घुटने का दर्द है तो पालथी में मत बैठो। पांव खुले रहने चाहिए ताकि रक्त संचार में कहीं बाधा न आए। कायोत्सर्ग स्वास्थ्य की दृष्टि से, बीमारियों को मिटाने की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है और साथ-साथ में एक आध्यात्मिक प्रयोग भी है। मानसिक समस्या को सुलझाने का प्रयोग है। इसमें दिमाग एकदम खाली और शरीर भार-मुक्त हो जाता है।

कायोत्सर्ग में निरोध भी है, शोधन भी है। जब निरोध प्रबल हो गया तो पुराने का शोधन भी होने लग जाएगा। वह टिक नहीं पाएगा, क्योंकि उसको रास्ता नहीं मिलता। फिर बाहर से पोषण नहीं मिलता। कोई भी चीज चाहे अच्छी हो या बुरी हो जब तक भीतर है और उसे बाहर से पोषण मिलता रहे, तब तक वह जिंदा रहेगी। जब बाहर से पोषण मिलना बंद हो जाता है तब वह जिंदा नहीं रह सकती। इसी प्रकार कायोत्सर्ग की स्थिति में जो तनाव, जो बीमारी और जो समस्या है चाहे वह मानसिक समस्या ही क्यों न हो, बाहर से पोषण मिलना बंद हो जाता है तो एक अजीब प्रकार की स्थिति बनती है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। एक मनःचिकित्सक के पास जब कोई बीमार जाता है तो वह उसकी सारी History को जानता है, उसे सुला देता है और कहता है कि बिल्कुल ढ़ीले हो जाओ। कायोत्सर्ग में इसी बात का सुझाव दिया जाता है। उस शिथिल अवस्था में वह जो भी बात कहेगा, वह बिल्कुल सच-सच कहेगा। तनाव में आदमी सच बात नहीं बोलता। तनाव में छुपाने की बात बहुत रहती है। व्यक्ति जब कायोत्सर्ग की अवस्था में होता है तो सरलता आती है। उस समय वह कुछ भी छुपाता नहीं है। यह कायोत्सर्ग की प्रक्रिया चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत चलती है। मैंने स्वयं देखा। एक दांत निकलवाना था। डॉक्टर के पास गए। डॉक्टर ने दांत निकालने की तैयारी की और

सबसे पहले कहा कि शरीर को बिल्कुल ढ़ीला छोड़ दो। उसको भी कायोत्सर्ग कराना जरूरी है। जब कोई X-Ray लेते हैं, रोगी X-Ray Plate के सामने जाकर खड़ा होता है तो यही कहा जाता है कि बिल्कुल ढीले रहो।

कायोत्सर्ग : एक सशक्त उपाय

तनाव में सारी समस्याएं पैदा होती हैं। जब समस्या को सुलझाना है तो शिथिलता आवश्यक है। क्या है कायोत्सर्ग? कायोत्सर्ग शिथिलीकरण की प्रक्रिया तो है ही, हमारे स्वास्थ्य की भी चाबी है। मैं तो यह मानता हूं कि जो कायोत्सर्ग करना नहीं जानता, वह स्वस्थ रहना भी नहीं जानता। आदमी स्वस्थ कैसे रहे, बीमारी से कैसे बचे? इसका उत्तर है–कायोत्सर्ग करें। यदि व्यक्ति कायोत्सर्ग करना सीख जाए तो स्वास्थ्य की दृष्टि से काफी निश्चिंत हो सकता है।

मेरे पास कुछ वृद्ध लोग आए और बोले कि हमें रात को नींद नहीं आती है। नींद नहीं आती है तो पूरी रात पैरों को पसारते रहते हैं। क्या करें? मैंने कहा–कायोत्सर्ग की साधना करो। रात को लेट जाओ, नींद आए न आए, इस बात को छोड़ दो। कायोत्सर्ग में लेट जाओ, शरीर को ढ़ीला छोड़ दो और फिर नीचे पैर के अंगूठे से देखना शुरू करो। एक-एक अवयव को देखते-देखते सिर तक आ जाओ और फिर सिर से देखना शुरू करो, पैर तक आ जाओ। यह प्रक्रिया चलाओ। नींद भी आ जाएगी। न आए तो भी नींद का काम हो जाएगा। भारीपन नहीं रहेगा, हल्के हो जाओगे। इस प्रक्रिया को हम एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। एक आदमी बाहर बाजार में जाकर बांस लाया, दो बांस सीधे खड़े कर दिए। सिद्ध किया हुआ देव काम करके आया और बोला–काम चाहिए। मालिक बोला–अब तो काम यही है कि जब तक कोई दूसरा काम न बताऊं, तब तक इधर से चढ़ो, उधर से उतरो। फिर उधर से चढ़ो और इधर से उतरो, यह काम करते रहो, समाधान भी हो गया। कायोत्सर्ग में क्या करना है? भूत को वश में करना है, हमारा मन भी भूत से कम नहीं है। नींद नहीं आती है तब तो मन और परेशानी पैदा करता है। उसको वश में करना है तो बस दो बांस रोप दिए कि नीचे से ऊपर चलो। एक-एक अवयव को देखते-देखते ऊपर जाओ और फिर ऊपर से नीचे आ जाओ। बस यह व्यायाम करते रहो। भूत वश में हो जाएगा। भूत को काम मिल जाएगा। कितने लोगों ने इसका प्रयोग किया और बुढ़ापे की समस्या, दुःख की समस्या, नींद नहीं आने की समस्या और भी न जाने कितनी समस्याएं हल हो गईं। नींद न आए तो यह प्रयोग करें, शायद

नींद आ जाएगी और न आए तो भी अनिद्रा की समस्या नहीं रहेगी। दिमाग हल्का रहेगा और ऐसा लगेगा मानो अच्छी नींद लेकर के उठे हैं।

आधार और शिखर

कायोत्सर्ग व्यापक प्रयोग है। अगर पूछा जाए कि भगवान महावीर की साधना, जैन योग की साधना का मूल आधार क्या है? तो कहना चाहिए– कायोत्सर्ग। मूल आधार और शिखर दोनों कायोत्सर्ग हैं। पहाड़ के नीचे की तलहटी और ऊपर का शिखर दोनों कायोत्सर्ग हैं। साधना का प्रारंभ भी कायोत्सर्ग से होता है और समाप्ति भी कायोत्सर्ग से होती है। हम समस्या को सुलझाने की प्रक्रिया को समझें। चाहे शारीरिक समस्या है, चाहे मानसिक समस्या हो और चाहे कर्म बंधन की समस्या हो–तीनों में कायोत्सर्ग का उपयोग किया जा सकता है। कायोत्सर्ग को ठीक समझ लें तो निरोध और शोधन दोनों बातें समझ में आ जाएंगी। कर्म का निरोध कैसे होता है और कर्म का शोधन कैसे होता है? स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें तो बीमारी का निरोध कैसे होता है और पुरानी बीमारी का शोधन या रेचन कैसे होता है? मानसिक समस्या है तो उसका भी निरोध कैसे होता है और उसका रेचन कैसे होता है? कायोत्सर्ग समाधान का इतना महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि इसे जीवन के व्यवहार में हर जगह लागू कर सकते हैं। दोनों दृष्टियों से सोचें कि मुझे निरोध भी करना है, शोधन भी करना है। अकेली प्रक्रिया काम नहीं देगी। जहां निरोध और शोधन दोनों एक साथ होते हैं, वहां समस्या का सही समाधान होता है।

40. सुख की स्पृहा क्यों?

एक प्रश्न है कि आदमी क्रूर क्यों बनता है? दूसरा प्रश्न है–आदमी शोकाकुल क्यों बनता है, निरंतर शोक में क्यों रहता है? अध्यात्म के आचार्यों ने इस समस्या पर विचार किया, कारण को खोजने का प्रयत्न किया। इसका उत्तर हमें उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है। वहां एक प्रश्न पूछा गया–एक व्यक्ति सुख की आकांक्षा को त्याग देता है, सुख आ जाए तो ठीक है, सुविधा मिल जाए तो ठीक है, किंतु वह हर समय सुख की खोज में नहीं रहता। सुख की स्पृहा को त्याग देता है। इससे उसे क्या मिलता है? उत्तर दिया गया–सुख की स्पृहा को छोड़ने से व्यक्ति में अनुकंपा पैदा होती है, क्रूरता समाप्त हो जाती है। क्रूर कौन बनता है? जो सुख की खोज में रहता है, पदार्थ की खोज में रहता है, धन की खोज में रहता है, उस व्यक्ति में क्रूरता पैदा होती है। जहां धन और पदार्थ की प्रबल लालसा होती है, वहां क्रूरता का होना निश्चित है।

जब व्यक्ति क्रूर बन जाता है और केवल अपना ही सुख चाहता है तो वह दूसरे के साथ अन्याय करता है। एक दुकानदार था। धन की लिप्सा के कारण मन में क्रूरता पैदा हो गई। वह हमेशा गलत काम करता। नकली माल बेचता। एक ग्राहक को हाथी के दांत की चीजों की जरूरत थी, वह ले गया और कुछ ही दिनों में पता लगा कि ये असली हाथी के दांत नहीं हैं। ये सारे नकली हैं। वापस आया। आकर बोला–भैया! आपकी दुकान से यह सामान ले गया था। आपने कहा–ये हाथी के दांत की चीजें हैं। ये तो सारी नकली हैं। बोला–मुझे पता नहीं है। तुम ठहरो, कुछ दिन में खोजकर बताऊंगा। हाथी के मालिक से जानकारी करूंगा कि डॉक्टर ने नकली दांत कब लगाए थे? खोज करूंगा, फिर बतलाऊंगा। आदमी तो नकली दांत लगाते हैं, पर हाथी ने नकली दांत किस विशेषज्ञ से लगवाए?

व्यक्ति कितना तोड़-मरोड़ कर सचाई को प्रस्तुत करता है। कारण यही है कि भीतर अनुकंपा नहीं है, क्रूरता है जो व्यक्ति केवल अपना सुख चाहता

है, दूसरे को धोखा देता है, दूसरे के साथ ठगाई करता है। वह यह नहीं सोचता कि मैं अपने सुख के लिए करता हूं, पर सामने वाले व्यक्ति का क्या होगा? जहां क्रूरता होती है वहां सामने वाले का प्रश्न गौण हो जाता है। केवल मुझे कुछ मिलना चाहिए। उसके सामने इसके सिवाय कुछ नहीं होता। एक बहुत सुंदर कारण बतलाया गया कि जो केवल अपने सुख की एषणा करता है, वह व्यक्ति संवेदनशून्य हो जाता है।

सुख की एषणा : मौलिक मनोवृत्ति

यद्यपि सुख की इच्छा मनुष्य की ही नहीं, प्राणिमात्र की प्रकृति है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। व्यक्ति धूप में बैठा है, छाया दिखाई दे तो वह धूप में नहीं बैठेगा, छाया में जाकर बैठेगा, क्योंकि धूप में बैठने से कष्ट होता है। वह कष्ट नहीं चाहता, सुख पाना चाहता है, इसलिए वहां चला जाता है। प्यास है तो जहां कुआं नहीं है, पीने का पानी नहीं है, वहां नहीं जाएगा। जहां कुआं है या पीने का पानी है, उसके पास जाएगा। यह सुख की खोज मनुष्य की ही नहीं, प्राणिमात्र की मनोवृत्ति है। छोटे-छोटे जीव-जंतु भी धूप में रहना पसंद नहीं करते। छाया है, वहां बहुत चीटियां हैं, पर जैसे ही धूप आती है, सारी चींटियां गायब हो जाती हैं। सामान्यतया मच्छर भी बहुत सताते हैं, किंतु जब तेज लू चलती है तो मच्छर भी गायब हो जाते हैं। वे भी सहन नहीं कर पाते। सुख की एषणा प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति है। हम एक सीमा तक अपने सुख के लिए, अपनी सुविधा के लिए दूसरों के प्रति कुछ भी अनुचित आचार और व्यवहार करते हैं, वह हमारी दुर्बलता तो है, पर वहां समस्या नहीं होती। वह समस्या तब बनती है जब सीमा का विवेक नहीं रहता। जब व्यक्ति दूसरों के प्रति संवेदनहीन बन जाता है और यह चिंता ही नहीं करता कि दूसरे का क्या होगा?

क्रूरता क्यों?

यदि एक क्रूरता न हो तो बाजार की पचास प्रतिशत शुद्धता हो जाए। बाजार में सारी गड़बड़ इसी क्रूरता के कारण होती है। जिस व्यक्ति में सुख की स्पृहा समाप्त हो जाती है, वह किसी का अहित नहीं कर सकता। आगम साहित्य में बहुत सुंदर प्रसंग मिलता है धर्मरुचि अनगार का। भिक्षा में उनको कड़वा तुंबा मिला। वह इतना जहरीला था कि उसे खाते ही आदमी मर जाए। गुरु ने कहा—तुम जाओ और एकांत स्थान में जाकर इसका परिष्ठापन कर दो। मुनि वहां गए और वहां उसके परिष्ठापन करने की योजना बनाई। थोड़ा-सा

रस नीचे गिर गया। सुवास के कारण चींटियां आने लगीं। उन्होंने सोचा–यहां परठने से हजारों-हजारों जीव मर जाएंगे। मैं अकेला खाऊंगा तो अकेला ही मरूंगा। मेरे कारण इतने जीव मर जाएंगे, यह ठीक नहीं है। इस चिंतन के साथ उन्होंने वह कड़वा तुंबा स्वयं खा लिया। जिसमें अनुकंपा होती है, वह दूसरे को कष्ट देना नहीं चाहता, स्वयं कष्ट सहन कर लेता है। यह वृत्ति तब जागती है जब व्यक्ति सुख की स्पृहा का त्याग कर देता है।

जब तक सुख की स्पृहा प्रबल होती है, तब तक व्यक्ति यही सोचता है कि मुझे सुख मिलता रहे, मुझे सुविधा मिलती रहे। यह सुविधावादी दृष्टिकोण बन जाए, फिर उस आदमी को क्रूर व्यवहार करने में संकोच नहीं होता। दूसरे का अनिष्ट हो उसमें भी संकोच नहीं होता। जिसमें करुणा है, अनुकंपा है, उसका चिंतन कभी नकारात्मक नहीं होगा। वह हमेशा सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। यह तब संभव होता है, जब सुख की स्पृहा का त्याग हो जाए, धन के प्रति लालसा कम हो जाए और पदार्थ के प्रति आसक्ति मंद हो जाए। तभी यह बात समझ में आ सकती कि सुख की आकांक्षा के कारण ही व्यक्ति क्रूर बनता है। इसका समय-समय पर अनुभव भी किया जा सकता है।

सुखाकांक्षी लोग कितने अनर्थ करते हैं, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यात्रा के दौरान एक मुस्लिम भाई मिला। बोला–आचार्यजी! मेरी एक समस्या है। मैंने पूछा–क्या समस्या है? उसने कहा–मैंने एक भाई को व्यापार में अपना सहभागी बनाया। वह साधारण स्थिति का था, पर मेरे साथ अच्छी मित्रता थी। मैंने सोचा–उसका भी कल्याण हो जाए, उसकी भी स्थिति सुधर जाए। वह काम करता रहा और मैं भी उसका भरोसा करता रहा। सारा काम उस पर छोड़ दिया। अब स्थिति यह है कि उसने मेरी फैक्ट्री पर अधिकार कर लिया। मेरे सारे धन पर अधिकार कर लिया। अब मुझे कहता है कि तुम अलग हो जाओ। इसमें तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं है। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं देखने को मिल सकती हैं। ऐसा क्यों होता है? जिसका उपकार किया, सहभागी बनाया और धन दिया, वही व्यक्ति उस पर कब्जा करके कहता है कि तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं है, तुम यहां से चले जाओ।

जिसमें सुख की आकांक्षा प्रबल है, पदार्थ के प्रति गहरी आसक्ति है और धन पाने की तीव्र लालसा है, वही व्यक्ति ऐसा करता है। वह यह नहीं सोचता कि इसने मेरा उपकार किया है। वह तो यह सोचता है कि अभी वर्तमान में जो मैं कर सकता हूं, वह कर लूं। एक बहुत बड़ी सचाई आगमकार ने हमारे सामने

रखी। क्रूरता को मिटाना चाहते हो तो अनुकंपा को जागृत करो। अनुकंपा है तो कोई आदमी किसी के साथ क्रूरता के कारण अन्याय नहीं करेगा, किसी का शोषण नहीं करेगा और किसी को हानि नहीं पहुंचाएगा।

कष्टसहिष्णुता आचार्य भिक्षु की

हमें सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि व्यक्ति में सुख की आसक्ति न बढ़े, पदार्थ की आसक्ति और मोह न बढ़े। वह कैसे कम हो इस विषय पर प्रशिक्षण होना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में एक बहुत गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया गया है। लोग सोचते हैं कि साधु बन गया, अब सद्गति निश्चित है। साधु स्वयं भी इसी भाषा में सोच लेता है, पर यह पूर्ण सचाई नहीं है। जो साधु साधुत्व में रमण नहीं करता, केवल सुख की आकांक्षा करता है, उसकी कभी सद्गति नहीं हो सकती। जिस साधु में कष्ट झेलने की क्षमता नहीं होती, उसकी सद्गति के आगे भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। आचार्य भिक्षु इसलिए 'भिक्षु' बन पाए, क्योंकि उनमें कष्ट झेलने की क्षमता थी। न सर्दी की परवाह, न गर्मी की परवाह, न आंधी, तूफान और बरसात की परवाह। अनगिन कष्टों का सामना करना पड़ा, लेकिन कभी विचलित नहीं हुए। भिक्षु सचमुच भिक्षु बन गए, नहीं तो शायद भिक्षु नहीं बन सकते।

आचार्य भिक्षु के मन में एक मात्र अध्यात्म था, सुख-दुःख की बात उन्हें कभी प्रभावित नहीं कर पाई। पाली का प्रसंग है। वहां चौमासा करना था। मुश्किल से स्थान मिला। आधे स्थान में दुकान चलती और आधे में उनका प्रवास होता। किसी ने बहन को भ्रमित कर दिया। वह आकर बोली–मेरी दुकान खाली करो। आचार्य भिक्षु ने कहा–तुमने तो कहा था कि पूरा चौमासा कर सकते हो और अब तुम स्थान को खाली करा रही हो। वह बोली–कुछ भी हो, मेरी दुकान को तो खाली करना ही होगा। ठीक है, तुम्हारी आज्ञा नहीं है तो हम रह नहीं सकते। बिना आज्ञा रहें तो वह चोरी हो जाती है। उन्होंने दुकान को खाली कर दिया। दूसरा स्थान खोजा, वह मिल गया तो आचार्य भिक्षु वहां चले गए।

इधर अधिक वर्षा के कारण वह दुकान गिर गई। आचार्य भिक्षु ने कहा–देखो वह बहन कितनी समझदार थी। अगर हम वहां होते और दुकान गिरती तो संभव है किसी न किसी को चोट तो जरूर लगती। कुछ होता उससे पहले ही उसने दुकान खाली करा ली और हम सुरक्षित रह गए। आचार्य भिक्षु कष्टों को झेलते गए, फिर भी दृष्टिकोण सदा सकारात्मक रहा। उनमें कभी भी

नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं आया। सकारात्मक दृष्टिकोण तो शाश्वत जैसा बन गया था। साधुपन लेकर के कोई यह न मान ले कि साधु बन गया, बस अब तो सद्गति निश्चित है। जिसमें कष्ट सहिष्णुता होती है, उस श्रमण की हमेशा सद्गति होती है।

आचार्य तुलसी अनेक बार कहते–साधु संस्था में सुविधावाद न पनपे। वे बार-बार सावधान करते रहे–**खबरदार, जो सुविधावाद पनप पाया है।** खबरदार! सावधान रहना। कहीं भी सुविधावाद न आ जाए। बड़ा कठिन काम है। जो सुविधावादी होता है, उसकी सद्गति नहीं होती। जो निरंतर सुख पाने के लिए आकुल रहता है, जो बहुत ज्यादा सोता है, जो दिनभर हाथ पांव धोता रहता है, आगमकार कहते हैं कि उसके लिए सद्गति सुलभ नहीं है। सुविधावादी दृष्टिकोण चाहे साधु का बने, चाहे गृहस्थ का बने, उसमें क्रूरता, संवेदनहीनता और प्रमाद बढ़ने की संभावना रहती है। जितनी सुख की आकांक्षा है, उतनी ही क्रूरता की वृत्ति बढ़ती चली जाएगी। जितनी सुखाकांक्षा कम होगी, उतनी ही अनुकंपा बढ़ती चली जाएगी।

अशोक कौन?

जिसमें सुख की आकांक्षा नहीं है, उसमें शोक नहीं होता, चिंता नहीं होती। वह सदा अशोक रहता है, निश्चिंत रहता है, कभी तनाव में नहीं जाता। सुख की आकांक्षा हर आदमी में होती है। एक गरीब में भी होती है और एक धनी में भी होती है। एक गरीब आदमी ज्योतिषी के पास गया और बोला–मेरे पास धन नहीं है। ज्योतिषी ने बता दिया–अभी तो शनि की साढ़े साती चल रही है। अभी धन नहीं होगा। इससे चिंता अधिक हो गई। बातचीत करने के बाद घर जाने लगा। ज्योतिषी ने कहा–ऐसे कैसे घर जा रहे हो? पहले फीस चुकाओ और सौ रुपए दो। वह बोला–मेरे पास रुपया नहीं है। कोई बात नहीं, दस रुपए ही दे दो। वह भी नहीं है। चलो कोई बात नहीं है। एक रुपया दे दो। वह भी नहीं है। तब निश्चिंत रहो, शनि तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। आजकल धनी लोगों का भी सर्वे किया जाता है। हिन्दुस्तान में धनी लोगों में प्रथम नंबर किसका? इससे दूसरे के मन में भी प्रथम नंबर पर आने की इच्छा जागती है। व्यक्ति **येन केन प्रकारेण** पहले नंबर में आना चाहता है। तीसरे के मन में भी यही इच्छा जागती है। चौथे के मन में भी प्रतिस्पर्धा पैदा होती है। यह प्रतिस्पर्धा ही गलत आचरण करवाती है। धनी आदमी के मन में भी एक शोक रहता है। जो उसके पास है, उससे वह सुखी नहीं बनता। जो नहीं है, उसको लेकर दुःखी

बना रहता है। जब हम मुम्बई में थे, तब एक युवक आया। बोला–अब तो बड़ी विकट स्थिति बन गई है, आत्महत्या के सिवाय कोई रास्ता नहीं है।

यह शोक क्यों होता है? पास में है तो भी व्यक्ति शोकाकुल हो जाता है, क्योंकि आकांक्षा प्रबल है। अशोक वह होता है, जो धन की आकांक्षा नहीं करता। जितनी जरूरत है और जो पास में है, बस उससे अपना काम चला लेता है। मुझे पहले नंबर में आना है या इतना बड़ा बनना है, इस आकांक्षा से जो मुक्त हो जाता है, वह व्यक्ति शोकाकुल नहीं होता। एक व्यक्ति हमारे पास आया। वह काफी दुःखी था। मैंने पूछा–क्या हुआ? क्या तुम्हारी जीविका ठीक नहीं चल रही है? प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है? महाराज! ऐसे तो बहुत है, किंतु जितना था, उतना नहीं रहा, इस बात का दुःख है। आज भी कमी नहीं है। पहले दस करोड़ था। आज पांच करोड़ है। पांच करोड़ चला गया, इसका दुःख है। इस दुःख का कोई अंत नहीं हो सकता। शोक उस व्यक्ति को होता है, जो व्यक्ति आकांक्षा से युक्त होता है। जितनी आवश्यकता हो उतने धन का संग्रह किया जाए तो क्रूरता को पनपने का मौका नहीं मिलेगा।

एक है आवश्यकता और एक है स्पृहा–इन दोनों शब्दों को हम ठीक समझें। आवश्यकता में वे बातें नहीं होती, जो बातें स्पृहा में होती हैं। स्पृहा में आकांक्षा निरंतर बनी रहती है कि यह बनूं, वह बनूं। चाहे धन की आकांक्षा हो, चाहे वस्तु-प्राप्ति की आकांक्षा हो, चाहे पद-प्राप्ति की आकांक्षा हो, चाहे सत्ता की आकांक्षा हो–जितनी आकांक्षाएं हैं, पदार्थ से जुड़ी हुई आकांक्षाएं हैं। ये सचमुच व्यक्ति को दुःखी बनाती हैं और उसे शोकमग्न कर देती हैं। एक रहस्यपूर्ण सूत्र हमारे पास आ गया। किसी व्यक्ति को संवेदनशील रहना है और किसी व्यक्ति को अशोक रहना है तो उसे सुख की आकांक्षा को कम करना चाहिए। जब धन की आवश्यकता नहीं स्पृहा हो जाती है, वहां व्यक्ति दुःखी बन जाता है। इसलिए सुख की स्पृहा का वर्जन करें।

स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज की रचना कर सकते हैं। आचार्यश्री तुलसी जब दिल्ली में विराज रहे थे तो उन्होंने एक प्रवचन किया था। उसमें उन्होंने एक चित्र प्रस्तुत किया था। एक ओर रुग्ण समाज, दूसरी ओर स्वस्थ समाज। रुग्ण समाज के लक्षण और स्वस्थ समाज के लक्षण। एक आदमी बीमार रहकर दुःख पाता है, किंतु समाज बीमार होता है तो सब लोग दुःखी बन जाते हैं। सबका चिंतन होना चाहिए कि समाज स्वस्थ बने। स्वस्थ समाज

की रचना कौन कर सकता है? स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज की रचना कर सकता है। अगर व्यक्ति स्वस्थ नहीं है तो स्वस्थ समाज का निर्माण हो नहीं सकता। समाज को बनाने वाला और बिगाड़ने वाला व्यक्ति ही होता है। व्यक्ति अच्छे नहीं हैं तो समाज कहां से अच्छा बनेगा? स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण से स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। मैं मानता हूं कि स्वस्थता का यह एक महत्वपूर्ण सूत्र है कि समाज में सुख की आकांक्षा की सीमा हो। आकांक्षा की जितनी सीमा होगी, समाज उतना ही स्वस्थ होगा। व्यक्ति स्वस्थ रहेगा तो समाज भी स्वस्थ रहेगा और सुख के वातावरण का निर्माण होगा।

41. ब्रह्मचर्य

एक आदमी संन्यासी के पास गया और धन की याचना की। संन्यासी ने कहा– 'मेरे पास कुछ भी नहीं है।' उसने बहुत आग्रह किया तो संन्यासी ने कहा– 'जाओ, सामने नदी के किनारे एक पत्थर पड़ा है, वह ले आओ।' वह गया और पत्थर ले आया। संन्यासी ने कहा–'यह पारसमणि है, इससे लोहा सोना बन जाता है।' वह बहुत प्रसन्न हुआ। संन्यासी को प्रणाम कर वहां से चला। थोड़ी दूर जाने के बाद उसके मन में एक विकल्प उठा–पारसमणि पत्थर ही यदि सबसे बढ़िया होता तो संन्यासी इसे क्यों छोड़ता? संन्यासी के पास इससे बढ़िया कोई वस्तु जरूर है, वह वापस आया और प्रणाम कर बोला–'बाबा! मुझे यह पारसमणि नहीं चाहिए, मुझे वह दो, जिसे पाकर आपने इस पारसमणि को ठुकरा दिया।'

आनंद ब्रह्म है

पारस को ठुकराने की शक्ति किसी भौतिक सत्ता में नहीं हो सकती। अध्यात्म ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि में पारसमणि का पत्थर से अधिक कोई उपयोग नहीं है। काम-भोग को आप पारसमणि मान लें, मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, किंतु वह सबसे बढ़िया नहीं है, सुखानुभूति का सर्वोत्तम साधन नहीं है। आनंद के स्रोत का साक्षात् होने पर आदमी उसे वैसे ही ठुकरा देता है, जैसे संन्यासी ने पारसमणि को ठुकराया था।

उपनिषद् के ऋषियों ने गाया– **आनंदं ब्रह्म**–आनंद ब्रह्म है। यदि आनंद नहीं होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता। हमारे शरीर में से एक रश्मिपुंज प्रसृत हो रहा है। हमारी आंखों में प्रकाश तरंगित हो रहा है। यह सब क्या है? हमारे आनंद की अभिव्यक्ति है। हमारी चेतना में आनंद का सिंधु लहरा रहा है। हमारा मन आनंद की खोज में बाहर दौड़ रहा है। ठीक कस्तूरी-मृग की दशा हो रही है। कस्तूरी नाभि में है और मृग कस्तूरी की खोज में मारा-मारा फिर रहा है। विषयों की अनुभूति में सुख नहीं है, ऐसा मेरा अभिमत नहीं

है। विषयों से प्राप्त होने वाला सुख असीम नहीं है, शारीरिक तथा मानसिक अनिष्ट की परिणति से मुक्त नहीं है। चेतना में आनंद सहज स्फूर्त है, असीम है और उसके परिणाम में ग्लानि की अनुभूति नहीं है।

कुछ मानसशास्त्रियों का मत है कि ब्रह्मचर्य इच्छाओं का दमन है और इच्छाओं का दमन करने से आदमी पागल हो जाता है। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य निषेधात्मक प्रवृत्ति है। इसलिए उसकी उपादेयता में उन्हें विश्वास नहीं है।

भारतीय चिंतन इससे भिन्न रहा है। भारतीय मनीषी ब्रह्मचर्य को सृजनात्मक शक्ति मानते हैं। उसमें निषेध केवल बाह्य उद्दीपनों का है। वह आंतरिक चेतना के विकास और मुक्ति का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है, इसलिए उसकी सृजनात्मक शक्ति बहुत व्यापक है।

उदात्तीकरण काम का

योग के आचार्यों ने हमारे शरीर में सात चक्र माने हैं। उनमें दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान है। यह काम-चक्र है। यह चक्र विकसित नहीं होता तब मनुष्य वासना में रस लेता है। इस चक्र को हम विशुद्धि-चक्र (कंठमणि) से संपृक्त कर देते हैं, तब हमारी आनंदानुभूति का स्रोत बदल जाता है। हम आज्ञा-चक्र या भू-चक्र को विकसित कर लेते हैं, तब हमारी आनंदानुभूति का मार्ग बदल जाता है। मानसशास्त्र के अनुसार काम का उदात्तीकरण होता है। योगशास्त्र के अनुसार काम-चक्र का ऊर्ध्वीकरण होता है। इस ऊर्ध्वीकरण से हमारे मन का सहज आनंद के साथ संपर्क स्थापित हो जाता है। सुखानुभूति के द्वार को बंद कर कोई आदमी ब्रह्मचारी नहीं बन सकता, किंतु आनंदानुभूति के द्वार को खोलकर ही ब्रह्मचारी बन सकता है।

42. ब्रह्मचर्य : इन्द्रिय संयम की साधना

धर्म के दस प्रकारों में दसवां उत्तम धर्म है ब्रह्मचर्यवास। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ब्रह्मचर्य का भी बहुत व्यापक अर्थ है। ब्रह्म का एक अर्थ है आत्मा, ब्रह्म का एक अर्थ है आचार, ब्रह्म का एक अर्थ है मैथुन-विरति और एक अर्थ है गुरुकुलवास। सूत्रकृतांग सूत्र में ब्रह्मचर्यवास का, गुरुकुलवास का एक पूरा प्रकरण है। गुरुकुल में रहने वाला बहुत लाभान्वित हो सकता है। गुरुकुलवास का अर्थ है–गुरु द्वारा कृत और संघ के लिए निर्मित मर्यादाओं में रहना। गुरुकुलवास का यह अर्थ नहीं है कि गुरु के पास रहे। कितने साधु बाहर रहकर भी गुरुकुलवासी हैं। मूलतः जिनको गुरु का पथ दर्शन प्राप्त है, वे सब गुरुकुलवासी होते हैं।

खोज करें मार्ग की

साधना का रास्ता बहुत विषम है, उबड़-खाबड़ है और टेढ़ा-मेढ़ा है। उतार-चढ़ाव भी बहुत हैं। यदि पथदर्शक ठीक न मिले तो समस्या पैदा हो जाती है। प्रारंभ में गुरु का पथदर्शन बहुत जरूरी है। पथदर्शन देने के बाद गुरु उनको स्वतंत्रता भी देते हैं। रात का समय था। एक शिष्य गुरु के पास आया। जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया। रात के दस-ग्यारह बज गए। पुराना समय था। सर्वत्र अंधकार हो गया। गुरु ने कहा–चलो मैं तुम्हारे लिए प्रकाश कर देता हूं। हाथ में दीपक ले लिया। आश्रम के बाहर तक गए, तब तक तो दीपक जल रहा था। जैसे ही बाहर आए, गुरु ने दीपक बुझा दिया। शिष्य ने कहा–गुरुजी! यह क्या किया? अब तो मुझे प्रकाश की ज्यादा जरूरत है। गुरु ने कहा–मैंने रास्ता दिखा दिया। अब स्वयं अपना मार्ग खोजो। अपने दीपक स्वयं बनो।

पथदर्शन गुरु का

हिन्दुस्तानी योद्धाओं में शिवाजी बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी प्रसिद्धि उनके शौर्य और पराक्रम के कारण थी। समर्थ रामदास उनके गुरु थे। उन्होंने

जो पथदर्शन दिया, उस पथदर्शन के कारण शिवाजी वास्तव में शिवा बन गए। उनका पथदर्शन भी विचित्र था। जहां भी शिवा की कोई गलती सामने आती तत्काल गुरु का मार्गदर्शन मिल जाता, उन्हें नया प्रकाश मिलता और नई चेतना जाग जाती। एक बार समर्थ रामदास जा रहे थे। रास्ते में गन्ने के खेत आए। रामदास ने दो-चार गन्ने तोड़ लिए। खेत के मालिक ने उन्हें देख लिया। उसके मन में आक्रोश आ गया कि मुझे पूछे बिना मेरे खेत से गन्ने कैसे तोड़ लिए? सोचा नहीं, विचारा नहीं और रामदास की पिटाई कर दी। शिवाजी को इसका पता लगा। शिवाजी और रामदास दोनों बैठे थे। शिवाजी ने उस किसान को बुलाया, बुलाकर कहा–तुमने मेरे गुरु को कैसे पीटा? अब बेचारा किसान कांपने लगा। आवेश में आकर आदमी कोई भी काम कर देता है, फिर भयभीत होता है। जब आवेश शांत होता है तब समस्या पैदा हो जाती है। शिवाजी ने कहा–बोलो, क्या दंड मिलना चाहिए? समर्थ रामदास बोले–शिवा! इसे दंड तू नहीं देगा, इसे दंड मैं दूंगा। शिवाजी मौन हो गए। समर्थ रामदास बोले–यह एक गरीब किसान है। यदि गरीब नहीं होता तो दो-चार गन्ने के लिए ऐसा काम कभी नहीं करता। इसका दंड यही है कि इसको पांच बीघा भूमि दे दो। यह पथदर्शन समस्या के मूल का समाधान है।

गुरु कैसा हो?

हम समस्या के मूल को पकड़ें। हम ध्यान दें कि समस्या कहां से पैदा हो रही है? अगर मूल को न पकड़कर केवल पत्तों, शाखाओं, फलों को पकड़ेंगे, कोई अर्थ नहीं होगा। हम जड़ को पकड़ें कि बीमारी कहां से आ रही है? लोग गरीबी, बेरोजगारी आदि समस्याओं को गिनाते हैं। उनके समाधान की बात भी करते हैं। आश्वासन भी देते हैं, पर समाधान नहीं मिल पाता, क्योंकि जड़ तक जाने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। रामदास ने दंड दिया। शिवाजी भी खुश थे, किसान भी खुश हो गया। एक साथ सारा कंपन बंद हो गया। किसान रामदास के चरणों में गिर गया और अपराध के लिए क्षमा मांगी। अगर दंड दिया जाता तो प्रतिक्रिया होती। किसान में भी होती और जनता में भी होती कि बेचारे गरीब आदमी को कितना दंड दे दिया। समर्थ गुरु रामदास जी ने ऐसा दंड दिया कि सारी प्रतिक्रिया समाप्त हो गई। गुरु का पथदर्शन मिलता है तो अंधकार में भी प्रकाश हो सकता है। प्रश्न होता है–गुरु भी कैसा होना चाहिए? समर्थ गुरु हो, अनुभवी गुरु हो, लड़ाने और झगड़ा कराने वाला गुरु न हो, सांप्रदायिक कट्टरता में रस लेने वाला गुरु न हो, मूर्च्छा को पैदा करने वाला और राग-द्वेष

को बढ़ाने वाला गुरु न हो, उपशांत कषाय वाला गुरु हो तो अंधकार में भी प्रकाश हो सकता है। ऐसा सुंदर पथदर्शन मिल सकता है कि फिर किसी भी दीपक की जरूरत नहीं होगी।

ब्रह्मचर्य : आचार शुद्धि

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ है आचार की शुद्धि, आचार की साधना। यदि गुरुकुल नहीं है, गुरुकुल में वास नहीं है तो आचार की साधना भी अच्छी नहीं हो सकती। आजकल जैन समाज में भी काफी उच्छृंखलता आई है। आचार की भी उच्छृंखलता है। कारण यही है कि गुरुकुलवास नहीं है यानी गुरु का शासन नहीं है। आज स्वच्छंदता बढ़ी है, अनुशासन कम हुआ है, इसलिए आचार का अतिक्रमण हो रहा है। आचार-शुद्धि तभी संभव है जब गुरुकुलवास हो।

ब्रह्मचर्य : इन्द्रिय विजय

ब्रह्मचर्य वास का दूसरा अर्थ है इन्द्रियों पर विजय पाना। इन्द्रियां तो स्वयं उच्छृंखल हैं। इन्द्रियों की मांग कभी पूरी नहीं होती, वह बढ़ती रहती है। उन पर विजय पाना बहुत जटिल काम है। उसमें भी रसनेन्द्रिय पर विजय पाना बहुत मुश्किल है। गुरु के अनुशासन के बिना, पथदर्शन के बिना इन्द्रिय-विजय का रास्ता नहीं मिलता और इन्द्रिय-विजय हुए बिना न गुरुकुलवास होता है, न ब्रह्मचर्यवास।

इन्द्रिय-विजय करना बहुत कठिन काम है। आंख पर विजय पाना, कान पर विजय पाना, जीभ पर विजय पाना सचमुच बहुत कठिन साधना है। एक राजा बहुत शक्तिसंपन्न था। उसके मन में भावना पैदा हो गई कि मुझे सबको जीतना है। कुछ लोग शक्ति लेकर ही पैदा होते हैं। राजा ने साधन जुटाने शुरू कर दिए। सेना को बढ़ाना शुरू किया। उसके बाद शत्रु राजाओं पर आक्रमण कर दिया। उनके देशों पर अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। यद्यपि यह उचित नहीं है कि कोई राजा दूसरे देश पर अपना अधिकार जमाए, किंतु व्यक्ति में शक्ति है और उसके साथ वह इन्द्रिय-विजयी नहीं है तो दुनिया में अन्याय भी होता रहा है और होता रहेगा। जब तक इन्द्रियों पर विजय नहीं होती, तब तक अन्याय को रोका नहीं जा सकता। वह एक-दो-तीन-चार-पांच–इस प्रकार राजाओं को जीतता गया। एक दिन अपनी राजधानी में आया और मां को प्रणाम किया। मां ने मुंह फेर लिया। पुत्र ने सोचा–क्या बात है? मैं तो विजयी होकर आया हूं और मेरी मां मेरे सामने नहीं देख रही है। वह बोला–मां! देखो, आपका बेटा विजयी होकर आया है। मां ने देखा और पूछा–तू क्या होना चाहता है? मां! मैं सर्वजित होना चाहता हूं।

मां ने कहा–तू अभी मूर्ख है। सचाई को नहीं जानता, तत्त्व को नहीं जानता। क्या तुमने आंख पर विजय प्राप्त कर ली है? क्या तुमने कान पर विजय प्राप्त कर ली है? कोई भी अप्रिय शब्द आता है तो तत्काल उबल पड़ता है। क्या तुमने जीभ पर विजय प्राप्त कर ली है? मां! ऐसा तो नहीं है। मां ने कहा–पहले तुम इन्द्रियों पर विजय पाने की साधना करो, तभी सर्वजित बन सकते हो, अन्यथा दूसरे लोगों को जीत लिया, देशों को जीत लिया, भूमि को हड़प लिया, उससे सर्वजित कभी नहीं बन सकते। तुम सबकुछ पाकर भी दुःखी बने रहोगे। तुम्हारे दुःख का कभी अंत नहीं होगा। मां से बोधपाठ मिल गया। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, फिर वह लड़ाई में नहीं जाता, वह युद्ध में नहीं जाता। दूसरे की शक्ति को, सत्ता को हड़पने का प्रयत्न नहीं करता, वह अपने आप में लीन हो जाता है। गुरु का सही पथदर्शन मिल जाए तो आदमी में परिवर्तन हो सकता है।

विलासिता और पराधीनता

इन्द्रिय-विजय का उपाय जानने वाला और अच्छा पथदर्शन देने वाला गुरु मिल जाए तो इन्द्रिय-विजय भी संभव है और अंधकार में प्रकाश को खोजना भी संभव है। हम चाहे इतिहास को देख लें, चाहे धार्मिक संस्थाओं को देख लें, जहां-जहां इन्द्रिय-विजय में शिथिलता आई है, वहां-वहां पराजय हुई है। अगर हिन्दुस्तान के शासक इन्द्रिय-जयी होते तो हिन्दुस्तान कभी पराधीन नहीं बनता। पराधीनता का एक कारण है विलासिता। गौरी का आक्रमण हो रहा था, उस समय यदि पृथ्वीराज महलों में रंगरेलियां नहीं करता तो कभी पराधीनता नहीं आती। चाणक्य ने ठीक लिखा था कि राजा को इन्द्रिय-जयी होना चाहिए। यह उस समय के शासकों के लिए लिखा गया था। आज की आचार-संहिता में इन्द्रिय-जयी होने की बात नहीं आती। आज का सारा Code of conduct बाहरी मानदंडों पर आधारित हो गया है। व्यक्ति को भीतर कितना बदलना चाहिए और कितनी योग्यता अर्जित करनी चाहिए, ये सारी बातें आज गौण हो गई हैं।

इन्द्रियों का असंयम

हम पांच हजार वर्ष के इतिहास को देखें और धार्मिक संस्थाओं और धर्म-संघों के इतिहास को भी देखें। राजाओं का इतिहास और धर्म का इतिहास–दोनों का अध्ययन करें कि कहां-कहां समस्या पैदा हुई है और समस्या का मूल कारण क्या रहा है? तो ज्ञात होगा कि इन्द्रियों की उच्छृंखलता इसका बहुत

बड़ा कारण रहा है। इसलिए कहा गया–धर्म का प्रारंभ होता है इन्द्रिय-विजय से। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो, इन्द्रियों को जीतो, इन्द्रियों की हर मांग को पूरा मत करो। एक साधु के लिए तो यह आज्ञा की बात है। एक सामाजिक प्राणी के लिए भी जरूरी है कि वह इन्द्रियों की हर मांग को पूरा नहीं करे। सामाजिक प्राणी अपेक्षित मांग को पूरा करता है, पर सब मांगों को पूरा करने लग जाएगा तो समस्या पैदा हो जाएगी।

निदर्शन भर्तृहरि का

भर्तृहरि के सामने यह समस्या आई। भर्तृहरि राज्य को छोड़कर संन्यासी बन गए। इसका कारण क्या था? इन्द्रियों की उच्छृंखलता। उसने महारानी के चरित्र को देखा, महावत को देखा और आगे तक की पूरी एक शृंखला को देखा तो मन में आया–**धिक् तां च तं च मदनं च इमां च माम् च।** धिक्कार है महारानी को, धिक्कार है महावत को, धिक्कार है कामदेव को, धिक्कार है उस वेश्या को और धिक्कार है मुझे कि मैंने सब पर इतना विश्वास कर लिया। राजा उस समय ऐसे बिंदु पर पहुंच गया, जहां पहुंचकर उसने राज्य को तिलांजलि दे दी और राजमहल से प्रस्थान कर दिया। बाद में संन्यासी होकर बहुत काम किया। एक ओर इन्द्रियों की लोलुपता और एक ओर इन्द्रिय-विजय, एक ओर इन्द्रिय का पदार्थ के प्रति आकर्षण और एक ओर विकर्षण। ये दोनों स्थितियां हैं, ये दोनों रास्ते हैं। अब आदमी किस रास्ते को चुने? अगर गुरु का सही पथदर्शन मिल जाए तो उनमें संतुलन पैदा हो जाएगा और अगर गुरु का सही पथदर्शन नहीं मिले तो भटकाव भी संभव है।

उच्छृंखल भोगवाद

आज उच्छृंखल भोगवाद ने मनुष्य के विवेक को लुप्त कर पागल-सा बना दिया है। पागलपन किसको कहते हैं? जहां इन्द्रिय की उच्छृंखलता है वहां पागलपन होना स्वाभाविक है। हम कल्पना नहीं कर सकते कि आदमी कितना निर्दय होता है। जिसको प्रिय माना, जिसके साथ में रहे और उसी की हत्या कर दे। यह बात समझ में तो नहीं आती पर इसे मिथ्या भी कैसे माने? यह क्या है? यह सब मोह रूपी राजा का प्रभाव है। जो मोह रूपी राजा की शरण में रहता है, वह सबकुछ कर सकता है। वहां करणीय और अकरणीय, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक समाप्त हो जाता है।

व्यक्ति वैराग्य की भूमिका में आ जाए, इन्द्रिय-विजय की भूमिका में आ जाए, राग-द्वेष पर विजय पाने की भूमिका में आ जाए तब सोचेगा कि

यह करणीय है और यह अकरणीय है। करणीय और अकरणीय का विवेक तब जागृत होता है जब मोह की चेतना सो जाती है। जहां मोह की चेतना प्रबल होती है वहां यह विवेक सो जाता है। फिर आदमी कुछ भी कर सकता है। एक वर्ष में मोह के कारण, इन्द्रिय-लोलुपता के कारण क्या-क्या घटित होता है? यदि सारा संकलन हो तो शायद अनेक पुस्तकें बन सकती हैं। इस मूच्र्छा की स्थिति में, राग-द्वेष के वातावरण में यदि कोई आदमी अच्छा जीवन जीना चाहता है तो उसके लिए आवश्यक है गुरुकुलवास और ब्रह्मचर्यवास। बहुत सारे उपदेशक कहते हैं कि संतों की संगति में रहो। यह बात तो ठीक है, पर पहले यह देखो कि संत कैसा है? पथदर्शक है या नहीं। संत बन गए हैं और पैसा पास में है तो वहां जाकर हम अपने जीवन को उन्नत नहीं बना सकते। हम किसको संत माने? जिसके भीतर अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की चेतना जागृत है, वही संत कहलाने की योग्यता रखता है, अन्यथा हर किसी को संत कहना, गुरु कहना कठिन है।

आज धर्म भी एक बड़ा व्यवसाय बन गया है, उपदेश और प्रवचन भी व्यवसाय बन गए हैं। यह सारा भक्तिवाद भी व्यवसाय बन गया है। इसलिए कहीं भी समस्या का समाधान नहीं हो रहा है। आचार्य भिक्षु ने इस बात पर बहुत बल दिया। अगर कोई उनकी एक आचार की चौपई पढ़ ले तो प्रकाश मिल जाता है। भिक्षु स्वामी ने रूपक के साथ लिखा है–एक कुआं है, वह जमीन में बराबर है। उसके निकट मुंडेर आदि नहीं बनाई गई है। आदमी सावधान रहता है, हट कर चलता है कि सामने कुआं है। उस कुएं पर किसी ने जाजम बिछा दी। स्वागत का कार्यक्रम है और कहा जाए कि आइए बैठिए। कोई उस जाजम पर जाकर बैठेगा तो क्या होगा? साधुत्व रहित साधु का वेश भी ऐसा है कि खुले कुएं पर एक जाजम बिछा दी गई, हर आदमी धोखे में, भ्रम में आ जाता है।

गुरु वास्तव में कैसा होना चाहिए? जो जीवन का पथ दिखा सके, जहां लोभ बिल्कुल न हो, पैसे के प्रति आकर्षण भी ना हो। गुरु वह होता है जिसके लिए ढेला और कंचन समान होता है, ढेले में और कंचन में कोई फर्क नहीं होता। पहले जैन साधु पैसे से बहुत दूर रहते थे, आज काफी जगह जैन साधु संस्थाओं में भी पैसे के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। कभी-कभी मन में आता है कि इतने दिन वर्जना थी, कहीं उस वर्जना की तो प्रतिक्रिया नहीं हो रही है। जगह-जगह पर पैसे के आधार पर मूल्यांकन हो रहा है। बड़ा साधु कौन? बड़ा

संन्यासी कौन? जिसके पास बहुत कारें हों, वह बड़ा संन्यासी है। बहुत बड़ा मठ हो, वह बड़ा संन्यासी है। सारा मानदंड बदल गया। इसलिए हम इस बात पर बहुत गहराई से ध्यान दें। गुरुकुलवास और गुरु जैसे पवित्र शब्दों पर विचार करें। जिनसे पथदर्शन लेना है, उनकी पहले जांच भी कर लें कि कहीं पैसे का स्पर्श तो नहीं है? हम अच्छे साधु की पहचान करके उनसे पथदर्शन प्राप्त करें तो निःसंदेह जीवन में संयम का पथदर्शन प्राप्त कर सकेंगे।

43. ब्रह्मचर्य की साधना के सूत्र

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया है। उसमें पहला अंग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतों को मूल गुण और शेष साधना के अंगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतों के होने पर अन्य साधना के अंग विकसित हो सकते हैं। उनके न होने पर वे विकसित नहीं हो सकते। इसलिए महाव्रत मूल गुण हैं। सुदृढ़ आधार के बिना भवन की मंजिलों की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग में महाव्रतों का प्राथमिक स्थान है।

अहिंसा के दो रूप

महाव्रत के पांच प्रकार हैं–

1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह।

इनमें मुख्य स्थान अहिंसा का है। शेष सब उसी का विस्तार है। अहिंसा के दो रूप होते हैं–

1. संकल्पकृत अहिंसा 2. सिद्ध अहिंसा।

साधना के प्रारंभ में साधक अहिंसा का संकल्प स्वीकार करता है। मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नहीं होती, इसलिए बार-बार उतार-चढ़ाव आता रहता है। हिंसा के संस्कार पुनः-पुनः उद्दीप्त होते रहते हैं, किंतु अहिंसा का संकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर बढ़ता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आंतरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते जब कषाय क्षीण होता है तब अहिंसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति में साधक के मन में समता का पूर्ण विकास होता है। उसके मन में फिर शत्रु और मित्र का भेद नहीं रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नहीं रहता। हीनता और उत्कर्ष की भावना समाप्त हो जाती है। निंदा से ग्लानि और प्रशंसा से

उत्फुल्लता नहीं होती। मान और अपमान में उसका मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ता। उसमें सहज संयम विकसित होता है और उसमें सब जीवों को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

अहिंसा के विकास के साथ-साथ व्यक्ति में ऋजुता होती है, यह उसका सत्य पक्ष है।

अहिंसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति दूसरों के स्वत्व का अपहरण नहीं करता, यह उसका अचौर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह बाह्य वस्तुओं में आसक्त नहीं होता, यह उसका अपरिग्रह पक्ष है।

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है।

सिद्ध ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य दो भागों में विभक्त है–1. संकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य 2. सिद्ध ब्रह्मचर्य।

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुंचना हमारा लक्ष्य है। जैन आगमों में **घोर बंभयारी** शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी कहलाता है। जिसका मन स्वप्न में भी अणुमात्र विचलित नहीं होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ संकल्पों और साधना के द्वारा इस भूमिका तक पहुंचा जा सकता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है–मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का संबंध मुख्यतः मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनों भूमिकाओं से संबंधित है। अतः उसकी पालना के लिए शरीर-शास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव में ब्रह्मचर्य को समझने में भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण हैं–1. मोह 2. शारीरिक परिस्थिति।

ब्रह्मचर्य : शरीरशास्त्रीय दृष्टि

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उसकी शरीर में प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओं में परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका में वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है। वह सब धातुओं का सार है। शरीर में

अनेक नाड़ियां हैं। उनमें एक काम-वाहिनी नाड़ी है। उसका स्थान पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते हैं, उन आसनों के द्वारा इसी नाड़ी पर नियंत्रण किया जाता है। खाने से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय में भी जाता है। वीर्याशय में अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी बनता है, वीर्य भी बनता है। वह अंडकोश में जाकर संगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय में भी जाता है। योगियों ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता ही माना जाए या इस पर नियंत्रण पाने का कोई उपाय ढूंढा जाए? उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया–वीर्य केवल वीर्याशय में जाएगा तो पीछे से चाप पड़ने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना–यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वों को पोषण नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होंने वीर्य को मार्गांतरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गांतरण के लिए ऊर्ध्वाकर्षण की साधना का विकास किया।

ब्रह्मचर्य और आहार

वीर्याशय पर चाप पड़ने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचारी के लिए आहार का विवेक अत्यंत आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनों वर्जनीय हैं। गरिष्ठ आहार नहीं पचता, इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। संतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है मल-शुद्धि। मल के अवरोध से वायु बनती है। वायु जितनी अधिक बनेगी उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक बचो। वीर्य पर जब अधिक चाप होता है, तब ब्रह्मचर्य के प्रति संदेह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन में कहा गया–**बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।**

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा व्यक्ति केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

साधना के प्रयोग

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछेक साधना-सूत्रों का निर्देश प्राप्त होता है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित सकारात्मक परिणाम लाएगा। उनमें पहला साधना-सूत्र है वीर्य-स्तंभ प्राणायाम। उसका दूसरा नाम ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। इसकी विधि इस प्रकार है–सिद्धासन में बैठकर पूर्णरूप से रेचन करें। रेचनकाल में चिंतन करें कि मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है, फिर पूरक करें–जालंधर-बंध और मूल-बंध करें। पूरक-काल में पेट को सिकोड़ें और फुलाएं। सिकोड़ने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरक में सौ बार दोहराएं।

दूसरा सूत्र है ध्यान। तीसरा सूत्र है अल्पकालीन कुंभक और चौथा है प्रतिसंलीनता।

इन्द्रियां चंचल होती हैं, पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं होती। वे मन से प्रेरित होकर चंचल बनती हैं। मन जब स्थिर और शांत होता है, तब इन्द्रियां अपने आप स्थिर और शांत हो जाती हैं। मन जब अंतर्मुखी बनता है, तब इन्द्रियां भी अंतर्मुखी हो जाती हैं। महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा है -

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

पातंजलयोगदर्शन-साधनापाद, 54

अपने विषयों के असंप्रयोग में चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र में इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार बतलाए गए हैं।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं–विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष का निग्रह। आंखों से न देखें, यह विषय-प्रचार का निरोध है। विषय के साथ संबंध स्थापित हो जाए, वहां राग-द्वेष न करना राग-द्वेष का निग्रह है।

प्रतिसंलीनता का अर्थ है–अपने आपमें लीन होना। इन्द्रियां सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हें अंतर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है–

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखें, वैसे ही भीतर से सुना जाए, भीतर से स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसंलीनता के लिए कुंभक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है–

दाएं नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अंतःकुंभक करें, फिर बाएं नथुने से श्वास को बाहर निकाल दें। कुछ देर बाह्य कुंभक करें। इस प्रकार एक कुंभक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुंभक के साथ नाभि पर ध्यान करें। पूरक करते समय संकल्प करें कि वीर्य नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में जा रहा है। संकल्प में ऐसी दृढ़ता लाएं कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढ़ता दिखाई देने लगे। चाप में भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर संकल्प करें कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नहीं पड़ेगा। फलतः उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय में यौन-शास्त्रियों के अभिमत भी मननीय हैं।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है–अंड और डिंब ग्रंथियों के अंतःस्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवाहित होते हैं तो वे युवक और युवती के सर्वांगीण विकास में जादू की तरह नव-जीवन का प्रभाव छोड़ते हैं।

हेलेनाराइट ने इसके लिए बड़ा उपयोगी मार्ग बतलाया है। उनके अनुसार आत्मविकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त होकर दिन में कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय में केन्द्रित प्राणशक्ति सारे स्नायुमंडल में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर रही है। थोड़े समय में ही इस मानसिक सुझाव से तन और मन नए चैतन्य से स्फूर्त एवं प्रफुल्ल हो उठेंगे।

इन साधना-सूत्रों के अतिरिक्त शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन, व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिंतन ही पर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-संबंधी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है। यदि उसकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिंतन अकेला पड़ जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधना-सूत्रों का अभ्यास आवश्यक है।

44. ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रंथियां होती हैं–

1. श्लैष्मिक या पीयूष (पिट्यूटरी)
2. कंठमणि (थाइरायड)
3. वृषण
4. सर्वकिण्वी (पैनक्रिया)
5. एड्रीनल और सुप्रारीनल
6. पैराथायराइड
7. तृतीय नेत्र (पीनियल बॉडी)
8. यौवनलुप्त (थाइमस)।

पीयूष ग्रंथि

यह ग्रंथि दिमाग के नीचे होती है। यह थायराइड, पैराथायराइड, एड्रीनल, पैनक्रिया और वृषण कोशों के स्रावों को नियंत्रित करती है। इस ग्रंथि के रसों का कार्य इस प्रकार है–

प्रथम रस का कार्य है शरीर-विकास।

द्वितीय रस का कार्य है शरीर में जल या नमक का संतुलन।

तृतीय रस का कार्य है गुर्दे के कार्य का नियंत्रण।

कंठमणि ग्रंथि

यह गर्दन में श्वास नली से जुड़ी हुई ग्रंथि है। इसका आकार तितली के समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ़ जाती है, किंतु अन्य अंग साथ नहीं देते, इसलिए वह कमी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रंथि से रस कम निकले तो बुढ़ापा आ जाता है, सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रंथि

यह पुरुष के ही होती है। यह अंडकोश में होती है। इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढ़ी-मूंछें आती हैं।

पैनक्रिया ग्रंथि

यह दो आंतों के बीच में होती है।

एड्रीनल और सुप्रारीनल ग्रंथि

ये दोनों ग्रंथियां गुर्दे के ऊपरी हिस्से में होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मांसपेशियों में ले जाते हैं। यह मांसपेशियों को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथायराइड ग्रंथि

कंठमणि के पास गेहूं के दाने के बराबर चार ग्रंथियां होती हैं। इन्हें पैराथायराइड कहा जाता है। ये रक्त में कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित संतुलन बनाए रखती हैं।

तृतीय नेत्र ग्रंथि–यह मस्तिष्क में होती है।

यौवनलुप्त ग्रंथि–यह सीने में होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का संबंध वृषण ग्रंथियों से है। वृषण ग्रंथियां दो स्राव उत्पन्न करती हैं–बहिःस्राव और अंतःस्राव। धमनियों द्वारा वृषण-ग्रंथियों से रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनों स्रावों के उत्पादक अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते हैं।

वीर्य अंडकोश में उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं हैं। एक वीर्याशय में जाती है। दूसरी रक्त में मिलकर शरीर में दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है।

वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक जाती है। वह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा में इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल ही नहीं पाता। फलतः दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

जीवन के दस स्थान हैं–1. मूर्धा 2. कंठ 3. हृदय 4. नाभि 5. गुदा 6. वस्ति 7. ओज 8. शुक्र 9. शोणित 10. मांस।

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं–1,2. दो आंख-पटपड़ियां 3-5. तीन मर्म-हृदय, वस्ति और सिर 6. कंठ 7. रक्त 8. शुक्र 9. ओज 10. गुदा।

ओज इन दोनों प्रकारों में है। वह (वीर्य) धातु का अंतिम सार नहीं, किंतु सातों धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अंतिम सार है।

उसका केन्द्रस्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।

ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थितिनिबन्धनम्॥

इससे दो बातें निष्पन्न होती हैं–

1. ओज का संबंध केवल वीर्य से नहीं है।

2. वीर्य का स्थान अंडकोश है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य में तीसरा अंतर यह है कि वीर्य का मध्यम परिमाण ही लाभप्रद होता है। वह कम मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं। वह अति मात्रा में हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।

ओज जितना बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।

वीर्य-व्यय के दो मार्ग हैं–1. जननेन्द्रिय 2. मस्तिष्क।

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढ़ती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के परिणाम

काम-वासना के कारण जननेन्द्रिय द्वारा जो वीर्य-व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक

हानिकारक प्रभाव नहीं होता। मन में मोह और संस्कारों में अशुद्धि उत्पन्न होती है। उसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य में अति आसक्त होता है, उसकी वृषण ग्रंथियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते हैं। उसका फल होता है कि अंतःस्राव उत्पन्न करने वाला अवयव उचित सामग्री के अभाव में अपना काम करने में अक्षम हो जाता है। फलतः वह सर्व धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अंतःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से वंचित रह जाता है। उसके शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के ग्रंथों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियों में से सातवीं क्यारी में बड़ा गर्त हो या उसमें से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले संपूर्ण जल उस गर्त में भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने में व्यय होगा। यही स्थिति अति-मैथुन आदि के कारण होने वाले शुक्रक्षय में होती है। निश्चित ही संपूर्ण रस प्रथम शुक्र-धातु की पुष्टि में लगता है, किंतु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो नहीं पाता। परिणामतया अन्य वस्तुओं की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर में विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना का लाभ

ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय-विजय और इन्द्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुतः इन्द्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की इन्द्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता, अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नहीं होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सचाई का अंश भी है, पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिंतन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति में विकास पाता है। उसका शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदायी प्रभाव पड़ता है।

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, फिर भी नहीं कर पाते। ऐसा क्यों होता है? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यों उभर आती है? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा में यह है कि यह सब मोह के कारण होता है, पर शरीरशास्त्र की भाषा में कर्म का स्थान नहीं है। उसके अनुसार कामवाहिनी नाड़ियों में रक्त का संचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका संचरण नहीं होता तो वह भावना नहीं उभरती। संचरण कम होने से वह भावना कम उभरती है और संचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस संदर्भ में हम इस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यों किया गया?

कैसे करें ब्रह्मचर्य साधना?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है, पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इसमें ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारंभ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ-संकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शांत हो जाए।

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से काम-वाहिनी नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। खान-पान और मल-शुद्धि के प्रति सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत बड़ी शर्त है। वायु विकार न बढ़े, इस ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना बढ़ सकती है। इन सारी बातों का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व में बहुत महत्त्व है। इसके साथ-साथ मन में हमेशा शुभ संकल्प रहे, यह आवश्यक है। भगवान ने कहा–काम-भोग के विषय विकार पैदा नहीं करते। विकार पैदा करता है काम का संकल्प। सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा का प्रयोग वासना पर विजय पाने का एक सुंदर प्रयोग है। इसी प्रकार अनेक आसन, प्राणायाम, ध्यान और अनुप्रेक्षा के प्रयोग हैं जिनके द्वारा व्यक्ति इन्द्रिय-विजय की साधना में आगे बढ़ सकता है। इन्द्रिय-विजय के महत्त्व का जितना मूल्यांकन होगा व्यक्ति, परिवार, समाज और देश का चरित्र उन्नत हो सकेगा।

45. ब्रह्मचर्य : प्रयोग उदात्तीकरण का

इन्द्रियों का संयम साधना का प्रथम, किंतु बहुत दूरगामी सूत्र रहा है। हमारी इन्द्रियां पांच हैं–श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श–ये पांच विषय हैं। एक अर्थ में इन्द्रियों का जीवन ही वास्तव में जीवन है। आदमी उन्हीं को भोग रहा है, उन्हीं के साथ जीवन को चला रहा है।

इन्द्रियों का परस्पर संबंध

व्यक्ति शब्द सुनता है, रूप देखता है, गंध सूंघता है, रस चखता है और स्पर्श का भी वेदन, अनुभव करता है। यदि इन्द्रियों के विषय न हों तो लगेगा कि जीवन नीरस है। एक ओर इन्द्रियों के विषय हैं तो दूसरी ओर ब्रह्मचर्य है। सामान्यतया स्पर्शनेन्द्रिय संयम को ही ब्रह्मचर्य के अर्थ में स्वीकार किया जाता है, लेकिन ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल स्पर्शनेन्द्रिय संयम ही नहीं है, किंतु पांचों इन्द्रियों का संयम और इससे आगे विकल्प-संयम, स्मृति-संयम और चिंतन-संयम भी है। मन और इन्द्रिय–इन सबका संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का एक व्यापक अर्थ रहा है। ब्रह्म में जिसका चरण होता है वह है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान भी होता है, ब्रह्म का अर्थ परमात्मा भी होता है। हमारी धारणा यह रही है कि ब्रह्मचारी स्पर्श का संयम करे। कोरा स्पर्श का संयम भी कैसे होगा? सब इन्द्रियां परस्पर जुड़ी हुई हैं। शब्द का संयम नहीं है तो स्पर्शनेन्द्रिय का भी संयम नहीं हो सकता। रसन और स्पर्शन–इन दो का तो बहुत गहरा संबंध है। ब्रह्मचर्य के साथ रस का बहुत गहरा संबंध है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से रसन और स्पर्शन–ये परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों का घनिष्ट संबंध है। एक को वश में करने पर दूसरा अपने आप वश में हो जाता है। उसके लिए अलग से प्रयत्न करना जरूरी नहीं होता। यदि रसना पर नियमन नहीं होता, स्वाद का संयम नहीं है और स्पर्शन इन्द्रिय के संयम की साधना करना चाहें तो बड़ी कठिन बात है।

अहिंसा का संबंध शरीर से भी है, पर वह शरीर की मांग नहीं है। सत्य का संबंध, अचौर्य का संबंध, अपरिग्रह का संबंध शरीर से है और विशेष रूप

से मस्तिष्क से संबंधित है, किंतु ब्रह्मचर्य का संबंध शरीर से भी है और मन से भी है। उसकी शारीरिक मांग भी है और मानसिक मांग भी है। पुराना सिद्धांत यह है कि वीर्य का स्खलन होता है तो ब्रह्मचर्य खंडित होता है। जिसका वीर्य स्खलित नहीं होता, ऊपर चढ़ जाता है, वह ब्रह्मचारी होता है। उसे ऊर्ध्वरिता कहा जाता है। मैं तो ऐसा नहीं सोचता और ऐसा संभव भी नहीं है। कुछेक शब्दों का अर्थ इतना बदल जाता है कि हम एक रूढ़िगत अर्थ मानते चले जाते हैं। जानने का प्रयत्न बहुत कम करते हैं। मूल तक, गहराई तक जाने की चेष्टा बहुत कम होती है।

वीर्य : प्राण विद्युत

ऊर्ध्वरिता का अर्थ है प्राणशक्ति को ऊपर ले जाने वाला। प्राण-विद्युत ऊपर से नीचे आ सकती है। विद्युत पूरे शरीर में फैल सकती है, किंतु वीर्य के लिए तो कोई रास्ता नहीं है। मूल में वीर्य का अर्थ ही था–शक्ति, ऊर्जा। यह जो शुक्र, वीर्य और रजस् को एक अर्थ में मान लिया गया है, यह बड़ी भ्रांति है। इन सबके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं।

कहा जाता है–**मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्**–बिंदु का पात होने से मरण हो जाता है और बिंदु का धारण होना ही जीवन है। बिंदु का मतलब शुक्र कर दिया गया। इससे भी बड़ी समस्या पैदा हो गई। अगर बिंदुपात से मरण हो तब तो कोई आदमी जी नहीं सकेगा। बड़ी कठिन बात है। बिंदु का अर्थ मूलतः प्राण-विद्युत है। हमारे मस्तिष्क में जो प्राण-विद्युत है, उसका क्षरण होता है तो मरण होता है, क्योंकि जीवन का मुख्य आधार मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत और मस्तिष्क है।

शरीरविज्ञान की दृष्टि से पूरे शरीर में कोशिकाएं नष्ट होती हैं और फिर नई बनती जाती हैं, लेकिन मस्तिष्क शरीर का एक ऐसा भाग है जहां कोशिकाएं नष्ट तो होती हैं, पर उनका पुनर्निर्माण नहीं होता। इसलिए सबसे ज्यादा सुरक्षा करने का साधन है हमारा मस्तिष्क और फिर प्राण-विद्युत। देखा जाता है कि जब-जब काम की तरंग पैदा होती है, मस्तिष्क क्षुब्ध होता है। यह मस्तिष्कीय क्षोभ बहुत खतरनाक है। मस्तिष्क जितना शांत रहता है, आदमी उतना ही शक्तिशाली बनता है और मस्तिष्क जितना उद्विग्न, उत्तेजित या क्षुब्ध होता है, आदमी उतना ही कमजोर होता चला जाता है। ब्रह्मचर्य का इसी आधार पर मूल्यांकन किया गया है। कुछ लोग बड़े परेशान हो जाते हैं कि वीर्य-स्खलन हो गया। जिसके वीर्य-स्खलन हो गया, उसे वे ब्रह्मचारी नहीं मानते, बड़ी विचित्र

बात है। कई लोग तो बड़े चिंतित हो जाते हैं। यह कोई इतनी चिंता की बात नहीं है। अगर किसी दुर्भावना से, किसी उत्तेजना से वीर्य-स्खलन होता है तो सचमुच चिंता की बात है। यह बार-बार नहीं होना चाहिए, किंतु एक प्राकृतिक नियम है कि जब वीर्य ग्रंथियों में समा नहीं सकता तो वह बाहर निकलता है। इसलिए यह कोई चिंता की बात नहीं है। अनावश्यक चिंता भी आदमी को सताने लगती है। अब रहा प्रश्न ब्रह्मचारी का। सब व्यक्ति ब्रह्मचारी बन सके यह तो बहुत कठिन साधना है। सामान्य व्यक्ति अपने 'काम' की पूर्ति करते हैं और जीवन चलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो इस दिशा में उसका संयम करना चाहते हैं, संयम करते हैं। मूल ध्यान देने की बात है कि काम की अति न हो। 'काम' का अतिसेवन खतरनाक होता है। उससे शक्तियां बहुत क्षीण होती हैं।

सुकरात से पूछा गया कि मनुष्य को संभोग कितनी बार करना चाहिए?

उन्होंने कहा–जीवन में एक बार।

'यह संभव न हो तो?'

'वर्ष में एक बार।'

'यह भी संभव नहीं हो तो?'

'महीने में एक बार।'

'यह भी संभव न हो तो?'

'फिर कफन सिर पर रख लो और चाहे जैसे चलो।'

ब्रह्मचर्य : एक बड़ा आनंद

ब्रह्मचर्य के संदर्भ में अलग-अलग विचारकों के अलग-अलग मंतव्य हैं। कुछ लोग जो मनोविज्ञान की भाषा में सोचते हैं, उनका मानना है कि ब्रह्मचारी रहने वाला पागल हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। इसमें सचाई भी है कि अब्रह्मचर्य सुख है। इसमें कोई संदेह नहीं माना गया है। आदमी एक सुख को ठुकराता है, शरीर की मांग को ठुकराता है तो प्रतिक्रिया होती है, कुछ विक्षेप होता है और पागलपन-सा आता है, किंतु यदि उससे दूसरा बड़ा सुख मिल जाए तो पागलपन नहीं आता, बल्कि और अधिक आनंद आने लग जाता है। यह पागलपन का जो प्रश्न आता है वह उस स्थिति में आता है, जब आदमी प्राप्त सुख को छोड़ता है और दूसरा कोई सुख उसके सामने नहीं होता। एक लकीर है। उसके नीचे बड़ी लकीर खींच दें तो पहले वाली अपने आप छोटी हो जाएगी, किंतु लकीर एक ही है तो बड़ी या छोटी की

बात नहीं होती। बड़ा सुख उपलब्ध किया जाए तो फिर यह बात अपने आप गौण हो जाती है।

आलंबन साधना-सूत्रों का

साधना के कुछ सूत्र हैं। उन सूत्रों का आलंबन लेने पर सहज सुख उपलब्ध होता है और उससे भी ज्यादा सुख उपलब्ध हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया में अंतर्यात्रा का प्रयोग किया जाता है। अंतर्यात्रा के द्वारा सुषुम्ना में चित्त की ऊपर और नीचे की यात्रा का अभ्यास होने पर ऐसे सुख का अनुभव होता है कि वैसा शायद भोग में भी नहीं होता।

दर्शनकेन्द्र पर बालसूर्य का ध्यान करते-करते ऐसे स्पंदन जागते हैं, ऐसे सुख का अनुभव होता है कि वैसा सुख काम-सेवन में भी नहीं होता। अगर हम इसके वैज्ञानिक कारण को समझ लें तो बात बहुत स्पष्ट हो जाएगी। सुख का अर्थ है मन का संकल्प और विद्युत-रसायन का योग। वास्तव में जो सुख या दुःख का अनुभव होता है वह एक प्रकार की विद्युत-धारा के साथ हमारे मन का योग होने से होता है। एक प्रकार के रसायन के साथ हमारा मन जुड़ता है तो सुख का संवेदन बन जाता है। दूसरे प्रकार की विद्युत-धारा या दूसरे प्रकार के रसायन के साथ मन जुड़ता है तो दुःख बन जाता है। मन का योग होना सचमुच एक बड़ी बात है। हम अपने भीतरी रसायनों के साथ, विद्युत-प्रवाहों के साथ अपने मन को जोड़ सकें तो बहुत सुख उपलब्ध हो सकता है।

मूल है संवेदन

हमारे सिर के पीछे के भाग में छोटी-छोटी दो ग्रंथियां हैं। वे परस्पर सटी हुई हैं। आज का वैज्ञानिक विश्लेषण यह है कि एक ग्रंथि जाग जाए तो फिर चाहे जितनी भयंकर घटना घटित हो जाए, आदमी को कभी दुःख नहीं होगा और दूसरी ग्रंथि जाग जाए तो चाहे जितनी अनुकूलता मिल जाए, वैभव मिल जाए, संपदा मिल जाए, भोग मिल जाए, उसे कभी सुख नहीं होगा। हमारी धारणा यह है कि सुख और दुःख हमें बाहर से मिलता है, किंतु सचाई यह है कि इनका संवेदन भीतर में होता है। चाहे पास में पदार्थ हो, चाहे न हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। पदार्थ होने पर भी सुख-दुःख मिल सकता है। मिलेगा तभी जब इस प्रकार के प्रकंपन और स्पंदन हमारे मन में जाग जाएंगे, इस प्रकार की तरंग जागेगी और विद्युत-धारा का योग हो जाएगा। यह हमारी नितांत संवेदना की प्रक्रिया है। हम जो नियमन करेंगे, वह पदार्थ का नहीं करेंगे। हम संवेदना का नियमन करेंगे। इस संवेदन के रहस्य को समझ लेना ही ब्रह्मचर्य को समझ

लेना है। जिस व्यक्ति ने संवेदन को नहीं समझा वह इस रहस्य को नहीं समझ सकता। वह केवल बाहरी वस्तु पर भटकता रहेगा, बाहरी पदार्थ पर उलझता रहेगा। यह सही है कि बाहरी पदार्थ भी उस संवेदन को जगाने का निमित्त बनता है, किंतु सुख और दुःख देने का निमित्त नहीं बनता।

यौन हार्मोन्स का स्राव सब व्यक्तियों में होता है। पहले पीनियल ग्रंथि के द्वारा उसे रोक लिया जाता है। वह नीचे नहीं जाता। जब बालक बारह-तेरह वर्ष का होता है तब पीनियल निष्क्रिय होने लगता है और यौन हार्मोन्स, उत्तेजना के जो हार्मोन्स हैं, वे स्राव नीचे जाने लगते हैं। यौन हार्मोन्स का गोनाड्स में आना और उसे प्रभावित करना–यही है अब्रह्मचर्य। यह बिल्कुल शारीरिक प्रक्रिया है कि वे हार्मोन्स आते हैं और गोनाड्स को प्रभावित करते हैं, कामग्रंथि को प्रभावित करते हैं। तब काम-वासना की विचारधारा जाग जाती है। जिस व्यक्ति ने दर्शनकेन्द्र पर, ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान किया और उन यौन-हार्मोन्स को नियंत्रित करना सीख लिया, उस व्यक्ति में परिवर्तन आ जाएगा।

तीन अवस्थाएं

व्यक्ति में कई प्रकार की वृत्तियां होती हैं। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें यह वासना जागती ही नहीं। यह तो बहुत आगे की भूमिका है। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है, किंतु सताती नहीं और एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है और निरंतर सताती है।

अति-कामुकता, कामुकता और अकामुकता–ये तीन अवस्थाएं बन जाती हैं। एक गृहस्थ के लिए अकामुकता वाली बात बहुत कठिन है। वह कोई संन्यासी तो है नहीं, जो बिल्कुल काम से संपर्क ही न करे। अब शेष दो वृत्तियां बचती हैं। एक व्यक्ति काम का सेवन करता है और वासना उसे विवश कर देती है, उसे सताती है। वह सताए नहीं। उसका नियमन कर सके, इतनी क्षमता तो हर व्यक्ति में जागनी चाहिए। उस पर हमारा नियंत्रण रहे, वह हम पर हावी न हो। वृत्तियां हमारी स्वामी न बनें, हम उनके स्वामी बनें। उन पर हमारा नियंत्रण हो और हम उन पर हावी हों। हम वीतराग की दृष्टि से कभी न सोचें कि ध्यान करेंगे तो संसार कैसे चलेगा? सब ब्रह्मचारी हो जाएंगे, यह भी अति-कल्पना की बात होगी। यह संभव भी नहीं है। कभी-कभी तो बड़े-बड़े संन्यासियों के लिए भी कठिनाई की बात हो जाती है। वे भी समय पर नियमन नहीं कर पाते। हमारा लक्ष्य इतना ही हो कि यह बड़ी जटिल वृत्ति है, इस पर नियंत्रण करने की क्षमता हमारे भीतर जाग जाए।

दमन नहीं उदात्तीकरण हो

नियंत्रण के दो प्रकार हैं–एक नियंत्रण होता है दमन से, एक नियंत्रण होता है उदात्तीकरण से। दमन से और अधिक प्रतिक्रिया होती है और व्यक्ति पागल जैसा हो जाता है। यह पागलपन वाली बात तब आती है जब आदमी वृत्ति को जबरदस्ती रोकता है, उस पर नियंत्रण करता चला जाता है। दमन करता चला जाता है। दमन की प्रतिक्रिया स्वरूप चित्त में क्षोभ पैदा होता है, एक प्रकार का पागलपन भी आ जाता है। पूरा नहीं तो व्यक्ति आधा पागल तो बन ही जाता है। जो लोग शादी नहीं करते उन्हें विक्षिप्त अवस्था में दुःख भोगते हुए भी हमने देखा है। यह स्थिति आती है अतिनियंत्रण के द्वारा। मैं जिस नियमन की बात कर रहा हूं वह जबरदस्ती दबाना नहीं है, किंतु उस वृत्ति का उदात्तीकरण करना है। उदात्तीकरण में वृत्ति को इतना विशाल बना दिया जाता है कि सताने की बात समाप्त हो जाती है। उसमें दमन नहीं होता, जबरदस्ती भी नहीं रोका जाता, किंतु यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिससे वे हार्मोन्स कम स्रवित होते हैं और अपना कम प्रभाव डालते हैं। यह सारा साधना के द्वारा संभव होता है और इसमें चैतन्य केन्द्रों का ध्यान बहुत सहयोगी बनता है। जिन लोगों में ज्यादा उत्तेजना, ज्यादा आवेग, ज्यादा कामवासना जागती है, उनके लिए चैतन्य केन्द्रों का ध्यान ज्यादा उपयोगी है। ये सारी वृत्तियां नाभि के आस-पास जागती हैं। कामवासना गोनाड्स में जागती है और उत्तेजना एड्रीनल के आस-पास होती है। उनके स्राव जब अधिक बढ़ते हैं तब यह अधिक वाली बात होती है। अन्यथा जीवन में जितना अपेक्षित और आवश्यक है उतना हो जाता है और शेष ध्यान दूसरी बात में रहता है।

कभी-कभी काम का तनाव इतना बढ़ जाता है कि उसके अलावा कुछ दिखता ही नहीं है। बहुत सारे लोग पागल बन जाते हैं। जिसको चाहते हैं उसका संयोग नहीं मिलता है तो आत्महत्या भी कर लेते हैं। न जाने कितने युवक-युवतियां आत्महत्या करते होंगे और भी न जाने कितने अपराध और कितनी समस्याएं पैदा होती होंगी। इसका कारण है कि उनमें नियंत्रण करने की क्षमता नहीं है। पानी तालाब में उतना ही आए जितना उसमें समा सकता है। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि नाले को बंद किया जा सके। बांध है तो उसमें उतना ही पानी आए जितनी उसकी क्षमता है। अतिरिक्त पानी आ जाए तो बांध टूटने का खतरा भी पैदा हो जाता है। इसलिए एक सामान्य आदमी में यह भाव उतना ही आए कि उसमें शारीरिक, मानसिक आदि दृष्टियों से हानि न पहुंचाते हुए अपना काम कर सके।

जरूरी है आध्यात्मिक साधना

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य के इन पहलुओं पर शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से, आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से विचार नहीं किया, वे ब्रह्मचर्य के बारे में बहुत भ्रांतियां पालते हैं। मनोविज्ञान का सिद्धांत है कि यदि आदमी कामभोग का सेवन नहीं करता है तो शरीर स्वस्थ नहीं रहता। यह एक बड़ी भ्रांति है। जो लोग ब्रह्मचारी रहते हैं, वे बहुत स्वस्थ रह सकते हैं, पर उसके साथ मानसिक स्तर पर विचार करना होगा। शरीर से वह अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर रहा है, पर मन से निरंतर उसका सेवन कर रहा है, वह शरीर से तो बच रहा है, किंतु मन बिल्कुल खुला है तो पागलपन जरूर आ जाएगा, कठिनाई भी पैदा होगी। शारीरिक संयम करना है तो पहले मानसिक संयम करने की बात सीखनी होगी कि मन से कैसे संयम करें और मन से संयम करने की बात सीखनी है तो आध्यात्मिक संयम की बात सीखनी होगी कि भीतर के स्रावों को, भीतर के रसायनों को कैसे नियंत्रित कर सकें एवं विद्युत प्रवाहों को कैसे संतुलित कर सकें। यह साधना करनी होगी। आध्यात्मिक साधना होगी तो मानसिक साधना होगी और मानसिक साधना होगी तो शारीरिक साधना होगी।

कुछ लोगों में यह प्रश्न होता है कि जो ब्रह्मचारी होगा उसका शरीर तेजस्वी होगा, मजबूत और दृढ़ होगा। यह भी एक बहुत बड़ी भ्रांति है। अच्छा चमकता हुआ चेहरा तो उस व्यक्ति का होगा जिसमें खून ज्यादा अच्छा है। हमने खोजा तो यह तथ्य निकला कि जो अच्छा खाता है, पीता है, जिसका पाचन अच्छा है और रक्त अच्छा बनता है तो उसका चेहरा चमकेगा। वैसे व्यक्ति को हमने देखा है, जो घोर अब्रह्मचारी है, उसका चेहरा ऐसा चमक रहा है मानो लहू टपक रहा हो।

प्राचीन साहित्य में ब्रह्मचारी के लिए कहा गया कि राख से ढकी हुई आग है–भीतर में ज्योति है और ऊपर राख है, क्योंकि उसने अपनी साधना के लिए तपस्या के द्वारा शरीर को इतना तपा लिया कि मांस बहुत सूख गया है। वह बाहर से तो रूखा लग रहा है और भीतर में ज्योति जल रही है। संतवाणी को देखा तो कबीर की वाणी में मिला कि **बाहर से तो कछु न दीखै, भीतर जल रही जोत।** बाहर से तो कुछ नहीं दिख रहा है और भीतर में ज्योति जल रही है। एक तेजपुंज जैसा हो रहा है। आचार्य भिक्षु की वाणी में **मांस लोही कम हुवै तपसी तणै–**जो तपस्वी है, उसके मांस भी कम होगा, रक्त भी कम होगा। योगी का पहला लक्षण है–शरीर की कृशता।

धर्मचन्द ने एक संस्मरण सुनाते हुए कहा कि कलकत्ता में मैं एक योगी से मिला। उसको मेरे द्वारा लिखी गई योग की कुछ पुस्तकें दीं। उसने उलट-पुलट कर देखा। कुछेक बातों पर उसका ध्यान गया। उसने पूछा–इन पुस्तकों में जो लिखा है वह अनुभव की वाणी है या केवल सिद्धांत की बात है? मैंने कहा–अनुभव की। फिर उसने पूछा–लिखने वाले का शरीर कृश है या चर्बी से भरपूर? मैंने कहा–अत्यंत कृश। योगी बोला–ठीक है, मैं समझ गया।

निष्पत्ति ब्रह्मचर्य की

ब्रह्मचर्य के द्वारा उपलब्ध होती है–सहिष्णुता की शक्ति, बुद्धि की प्रखरता यानी सूक्ष्म-सत्य तक पहुंचने की शक्ति। ब्रह्मचारी में इतना धैर्य होगा कि वह हर बात को सहन कर लेगा, अधीर नहीं बनेगा। धीर की परिभाषा करते हुए कवि ने लिखा है–**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः–**विकार का निमित्त होने पर भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता, वह धीर होता है। यही धृति है। ब्रह्मचर्य के द्वारा धृति का विकास होता है। मनोबल का विकास होता है। ब्रह्मचर्य से आत्म-विश्वास पैदा होता है। यह हमारी सूक्ष्मशक्ति है ब्रह्मचर्य की। इसके द्वारा आंतरिक शक्तियों का विकास होता है। उसका शरीर से कोई बहुत गहरा संबंध नहीं है। यह ठीक है कि ब्रह्मचारी होगा तो नाड़ीसंस्थान कमजोर नहीं होगा, नाड़ीसंस्थान बहुत मजबूत रहेगा। स्नायुशक्ति मजबूत रहेगी। मस्तिष्क की शक्ति बहुत मजबूत और बहुत सक्रिय रहेगी। उसका संबंध आंतरिक शक्तियों के विकास से अधिक है, शारीरिक शक्तियों के विकास से कम है।

निष्कर्ष की भाषा में ब्रह्मचर्य का अर्थ है–सब इन्द्रियों का संयम और मन का संयम। जो व्यक्ति जननेन्द्रिय का संयम करना चाहता है, उसे विशेष ध्यान देना होगा रसनेन्द्रिय के संयम पर। इसीलिए उस स्थान का नाम भी प्रेक्षाध्यान में स्वास्थ्य केन्द्र है यानी वह स्वास्थ्य का केन्द्र है। आदमी मन से और भावना से उतना ही स्वस्थ होगा, जितना कि उसका स्वास्थ्य केन्द्र नियमित होगा, वश में होगा, सधा हुआ होगा। जीभ पर संयम करना, जीभ को स्थिर करना, जीभ को शिथिल करना और मौन करना–ये सब उसमें सहायक बनते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना में इन सबसे सहायता मिलती है।

ब्रह्मचर्य की तीन अवस्थाएं हैं–

1. पूर्ण ब्रह्मचर्य 2. सीमित ब्रह्मचर्य 3. अब्रह्मचर्य-उच्छृंखल ब्रह्मचर्य।

ये तीन मार्ग हैं। एक मार्ग को अर्थात् उच्छृंखलता को छोड़ना है। दो मार्ग शेष रह जाते हैं। वह अपनी शक्ति पर निर्भर है। जिसको यह लगे कि मैं पूरे ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता हूं तो सबसे अच्छी बात है। जिसको लगे कि यह संभव नहीं है तो फिर सीमित ब्रह्मचर्य की बात हो सकती है। उसे अणुव्रत की भाषा में कहा जाता है 'स्वदार-संतोष'–अपनी पत्नी में संतोष करना। न वेश्यागमन, न परस्त्रीगमन, न कल्यागमन। इनका बिल्कुल परित्याग करना। यह एक प्रकार से सीमित ब्रह्मचर्य हो गया।

जब हमारा दृष्टिकोण साफ हो जाता है और हम स्वास्थ्य की दृष्टि से–शारीरिक, मानसिक और आंतरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो इन दोनों में से एक रास्ते का चुनाव हो सकता है, किंतु तीसरे रास्ते का चुनाव तो सर्वथा नहीं होना चाहिए। वह हमारे लिए सर्वथा वर्जनीय है।

यह स्थिति आज के वातावरण में बहुत जटिल बनती जा रही है और विशेषतः युवकों में, युवतियों में, बच्चों में बहुत जटिल बनती जा रही है, क्योंकि इस बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं है, कोई प्रशिक्षण नहीं है और कभी-कभी प्रशिक्षण की बात चलती है तो प्रशिक्षण में भी संकोच करते हैं। यह संकोच जैसी बात तो नहीं है। बच्चों में बहुत बुरी आदतें न पड़ें। कभी-कभी बचपन से ही कुछ प्राकृतिक, अप्राकृतिक स्थितियां बनने लग जाती हैं। अप्राकृतिक ढंग से वीर्य का नाश करने वाला व्यक्ति सचमुच पागलपन की स्थिति में चला जाता है और शून्य हो जाता है। उसकी शक्तियां चुक जाती हैं और फिर वह स्नायविक दुर्बलता का शिकार हो जाता है। उसके वश की बात नहीं रहती। यदि प्रारंभ से ही बच्चों को इसके प्रति सावधान किया जा सके तो अच्छे परिणाम आ सकते हैं। इसमें अहित नहीं होता, बल्कि हित की बात ही आती है। ज्ञान होना उनके हित और कल्याण की बात है और ज्ञान न होने पर शायद ज्यादा अहित की बात हो सकती है। हम इस विषय पर इन सारे पहलुओं से चिंतन करें तो यह विषय सचमुच हमारे लिए बहुत उपयोगी विषय बन सकता है।